च कार्यम् । अत एवोक्तम्, 'एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तये'दिति । एवं प्रपत्तौ भगवानशक्यमपि साधयिष्यतीति निष्कर्षः । अत एव तद्विवृतौ प्रभुचरणैरूचे 'सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदय'मिति । तथा सति चिन्तालेशोपि नास्तीति प्रतिबन्धाभावे सिद्धे निवेदनसिद्धौ मुख्यभक्तिलाभः, तेन च भगवत्प्राप्तिरिति चिन्ताकरणनिराकरणनिरूपणस्य सार्थक्यमिति कोविदा एव विदाङ्कुर्वन्तु ।

नवरत्नप्रकाशे, 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः ।' इयं फक्किका पूर्वफक्किकया न संगच्छत इति बहूनामार्याणां महानेवोद्यमोऽस्मिन्ग्रन्थे नानाविधोऽस्ति । परन्तूद्यमशतेनापि न लगतीयं फक्किका । तत्रायं निष्कर्षो बोध्यः । इह लेखकादिदोषवशात्फक्किकानां वैपरीत्यं जातं लेखने । अतः फक्किकानामर्थस्वारस्यं विचार्य पूर्वापरभावं निर्धार्य फक्किका लिख्यन्ते । तथाहि । इह पूर्वं 'निवेदने भजनाधिकारस्तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः पाशारज्जुरिति चेत्' इति फक्किकास्ति । तत्रोत्तरमुक्तम्, 'अत्र वदाम' इत्यादिना । तत्र 'गायत्र्युपदेशजसंस्कारव'दित्यन्तेन निवेदनस्यावश्यकतोक्ता । एवं निवेदनस्यावश्यकत्वमुक्त्वा निर्वाहः केन कार्य इत्याकाङ्क्षायां 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा' इति फक्किकास्ति पठिता । तथाच देहादिनिर्वाहः केन कार्य इत्याकाङ्क्षायां निवेदितेन निर्वाहः कार्य इत्युत्तरं सिध्यति । तत्र किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां 'दासधर्मत्वात्' इत्युक्तम् । तदग्रे भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेनोपन्यस्य निवेदितेन निर्वाहः कार्य इति ज्ञापनार्थ'मुच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यै 'रात्मशोधकत्वाच्चे'ति पठितम् । तदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्ति'रिति फक्किकया अन्यथानुपपत्तिः प्रदर्शिता । तदग्रे 'अपरञ्चे'त्यारभ्य 'अनिवेदितस्य निषिद्धत्वा'दित्यन्तेन निवेदनदानयोः पुनः स्वविनियोगतदभावाभ्यां वैलक्षण्यं प्रदर्श्य भगवदनिवेदितेन निर्वाहं निषिध्य भगवन्निवेदितपदार्थेन भगवदुपभुक्तशिष्टेन प्रसादतया प्राप्तेन निर्वाहः कार्य इति सिद्धान्तितम् । एवं फक्किकाक्रमे सर्वोऽपि ग्रन्थः सङ्गतो भवति । तथाच सिद्धमेतत् । 'द्विजस्य वैदिके कर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारव'दिति फक्किकाया अग्रे 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा । दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैरात्मशोधकत्वाच्चे'त्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः । एतदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरञ्च । दाने हि न स्वविनियोगः । न तु निवेदने । अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्' इत्यन्तो ग्रन्थोऽस्ति । तदग्रे 'किन्तु प्रभौ निवेदितार्थविनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो न वेति भवति चिन्ते'त्यादिरूपो ग्रन्थोऽस्तीति सर्वमनवद्यम् ।

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–विरचित–षोडश–ग्रन्थान्तर्गतः—सप्तमो

अन्तःकरणप्रबोधः

पञ्चटीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीगोकुलनाथानां विवृतिः

२. श्रीरघुनाथानां विवरणम्

३. श्रीहरिरायाणां विवृतिः

४. श्रीव्रजराजानां विवरणम्

५. श्रीपुरुषोत्तमानां विवरणम्

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–प्रवर्तित–शुद्धाद्वैत–सम्प्रदायस्य–
सप्त–पीठान्तर्गत–षष्ठ–पीठाधिष्ठित–नित्यलीलास्थित–
गोस्वामिश्री १००८ श्रीवल्लभलाल–महाराजानां–
स्मृतौ–तेषां–श्रीमती–कृष्णावती–बहूजी–महा-
राजश्रीत्येताभिः–प्रकाशितः

वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०३

प्रकाशक :

गोस्वामी १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज (षष्ठपीठाधीश्वर) के
श्रीकृष्णावती बहूजी महाराज,
श्री कल्याणरायजीकी हवेली, बैंक रोड. बड़ौदा, गुजरात ३९०००६, भारत

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द : ५०३

ग्रन्थ–परिचय लेखक : **गोस्वामी श्याम मनोहर**

मुद्रक :
स्टूडियो बहार, २३–ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग चौपाटी,
बम्बई—४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज

।। श्रीकृष्णाय नम : ।।
।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम : ।।

ग्रन्थ-परिचय

अन्त:करणप्रबोध ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुकी सन्यासग्रहण करनेसे पूर्वकी तथा षोडशग्रन्थोंमें योजित ग्रन्थोंमें अन्तिम कृति है.

श्रीयदुनाथजी -विरचित वल्लभदिग्विजयके अनुसार सन्यासग्रहण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु भूतलपर ३९ दिन विराजे थे और यह सन्यास आपने इस ग्रन्थमें वर्णित तृतीय भगवदाज्ञाके पालनहेतु लिया था. अत: आषाढ शुक्ल द्वितीयासे ३९ दिन पहले यानि वैशाख (व्रज जेष्ठ) कृष्णा सप्तमीके आसपास किसी दिन वि. सं. १५८७ में इस ग्रन्थकी रचना हुई यह माना जा सकता है.

कुछ आधुनिक विद्वान् इस ग्रन्थमें वर्णित तीन भगवदाज्ञाओंकी व्याख्या श्रीमहाप्रभुको दोबार हुई अस्वस्थता तथा अन्तमें श्रान्ति तथा देहत्यागकी आन्तरिक प्रेरणा के रूपमें देते हैं. जो बात इन विद्वानोंके गले नहीं उतरती है वह है इन तीन भगवदाज्ञाओंका चमत्कारिक रूप ! श्रीमहाप्रभुके प्रति किसी अतर्कित लगावके कारण ये मिथ्याभाषणके आरोपका साहस जुटा नहीं पाते. अत: भक्ति और श्रान्ति के सहारे इन स्पष्टतम विधानोंकी अतीव अस्पष्ट और अटपटी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं. इन विद्वानोंको कभी लगता है कि किन्हीं श्रान्तिके क्षणोंमें ये तीन भगवदाज्ञाकी भ्रान्तियां पैदा होगयी होंगी--कभी इन्हें लगता है कोई तीन सांघातिक बिमारियोंसे पैदा हुई निराशाके वश श्रीमहाप्रभु इन बिमारियोंको परलोक सिधारनेकी भगवदाज्ञा ही मान बैठे हैं—कभी इन्हें लगता है कि सम्भवत: किसी अन्तरवाणीके रूपमें श्रीमहाप्रभुने लोक-त्यागका आदेश सुना हो और उसे ही श्रध्दावश भगवदाज्ञा मान ली हो !

न पूर्ण श्रद्धा और न पूर्ण अश्रद्धा अर्थात् मध्यमार्गको अपनानेकी मनोवृत्ति-वश अपनी निराधार कल्पनाओंको बौद्धिकताके रूपमें ये विद्वान् मान्य करना चाहते हैं. जगतके कारण स्थिति या प्रयोजन को ईश्वरीय चमत्कार मान कर भी जो चमत्कृत नहीं होते, वे ईश्वराज्ञाके श्रवणको 'चमत्कारपूर्ण' घटना कहकर अस्वीकार करना चाहते हैं. इससे अधिक चमत्कारपूर्ण तार्किकता और क्या हो सकती है !

इन कपोलकल्पित व्याख्याओंको प्रस्तुत करनेका एकमात्र हेतु स्वयम्की तूटती हुई श्रद्धाको कथञ्चित जोड़ना होता है. पर अपने इस मोहमें ये विद्वान् अक्सर यह बात भूल जाते हैं कि ऐसी अटपटी कल्पनासे श्रीमहाप्रभुका न तो कोई बुद्धिवैभव और न कोई चारित्रिक महत्ता ही सिद्ध होती है. जिस व्यक्तिका मनोबल दोबार केवल बीमार पड जानेपर तूट जाता हो उसे 'युगप्रवर्तक व्यक्ति' कैसे माना जा सकता है ? दोबारकी बिमारीसे पनपी निराशाको देहत्यागकी भगवदाज्ञा मान लेनेवाले भ्रान्त आत्मघातीको किस अर्थमें बुद्धिमान् माना जा सकता है ?

भारतवर्षकी तत्कालीन नितान्त विषम परिस्थितिमें किस अदम्य उत्साह निष्ठा और संकल्प के साथ श्रीमहाप्रभुने वैष्णवधर्म और संस्कृति की मशालको अपने सुदृढ हस्तोंमे धारण किया था ! देशके कोने-कोनेको उससे प्रकाशित करनेको जूझते रहनेवाले व्यक्तिको इतनी कमजोर इच्छाशक्तिवाला माननेमें कौनसा गौरव सिद्ध होता है ? वर्ण-आश्रम जाति-लिंग निम्नवर्ग-उच्चवर्ग देशी-विदेशी के भेदके बिना सभी व्यक्तियोंके हृदयको पुष्टिभक्तिके उपदेशसे भावपूरित श्रीमहाप्रभुने कर दिया था. ऐसे व्यक्तित्वके धनी श्रीमहाप्रभु बीहड जंगलोंमे वर्षा-शीत-आतप आदिकी परवाह किये विना निरन्तर परिभ्रमण करते रहे--विदेशी आक्रामकोंसे आतंकित नगर-जनपदोंमें वसनेवाली जनतामें निरन्तर आस्थाका सञ्चार करते रहे. वे स्वयम् दो बारकी बीमारियोंसे घबराकर आत्मघात करें यह कल्पना कैसे बुद्धिसंगत मानी जा सकती है ? जबकि वे जनताको- "त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृते सर्वतः सदा" का उपदेश देते रहे ! अतः —

आज्ञापूर्वं तु या जाता गंगासागरसंगमे ।
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्-द्वयं मया ।।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ।
पश्चातापः कथं तत्र सेवकोहं नचान्यथा ।।

इन शब्दोंमे सस्ती अन्तर्वाणी या संघर्षजन्य श्रान्ति या शारीरिक अस्वास्थ्यजन्य निराशा और भगवदाज्ञाकी भ्रान्ति को खोजना श्रीमहाप्रभुका अनादर है--उनकी अनुभूतिकी आध्यात्मिक-आधिदैविक गहनतासे नितान्त अपरिचयका द्योतन है !

श्रीमहाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथजी इस ग्रन्थका सन्दर्भ यों देते हैं :

द्वादश स्कन्धात्मक श्रीभागवत पूर्णपुरुष पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्का ही नामात्मक स्वरूपमें प्रकट दूसरा रूप है. भागवतकी वाणीके अर्थको प्रकट करनेके लिए ही वाणीके पति तथा भगवन्मुखरूप अग्निका श्रीमहाप्रभुके रूपमें प्राकट्य हुआ (यह रहस्य भागवतकी सुबोधिनी व्याख्याके प्रारम्भमें स्वयम् श्रीमहाप्रभुने ही प्रकट किया है) भागवतपर सुबोधिनी व्याख्या श्रीमहाप्रभुके अवतारका प्रमुखतम प्रयोजन है. दशमस्कन्ध भागवतका हृदय है. प्रथमस्कन्धसे प्रारम्भ कर क्रमशः दशमस्कन्ध तक पहुंचनेमें पर्याप्त विलम्बकी सम्भावना थी. फलतः तृतीयस्कन्धतक पहुंचनेके बाद अविलम्ब दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेकी कहीं एक विशेष भगवदाज्ञा श्रीमहाप्रभुको हुई (उसका पालन तो सर्वथा हुआ ही. अतः यहां उस आज्ञाका उल्लेख नहीं किया गया है. परन्तु उस आज्ञाके निगूढ आशय तथा अपने अवतारके प्रयोजनकी पूर्तिका सन्तोषोद्गार स्वयम् श्रीमहाप्रभुके मुखसे दशमस्कन्धकी सुबोधिनीके समाप्तिपर प्रकट हो गया है—"प्रकरणमिह पूर्यतेऽनवद्यं त्रयमपि विश्वजयाय मादृशानां, निजपदसमवाप्तये च नित्यं निजगुरुणा हरिणैव लोकवन्द्यम्")

दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु पूर्वनिर्धारित योजनाके अनुसार अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या लिखने प्रवृत्त हुए.

भागवतके सातों अर्थोंमें एकवाक्यता स्थापितकर दिखलानेकी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भागवतार्थ-निबन्धमें शास्त्रार्थ स्कन्धार्थ प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ की व्याख्या लिखी जा चुकी थी. इसी तरह वाक्यार्थ पदार्थ और अक्षरार्थकी व्याख्या भी प्रथम सूक्ष्मटीकामें लिखी जा चुकी थी. पुनः गूढतम रहस्योंको प्रकट करनेके लिए द्वितीय टीका सुबोधिनीका प्रणयन हुआ. यह एक सुदीर्घकालमें पूरी होनेवाली लेखनशैलीमें लिखा जा रहा ग्रन्थ था. भूतलपर उतने विलम्ब तक श्रीमहाप्रभुका विराजना भगवान्को अभिप्रेत न था. अतएव शीघ्र दशमस्कन्धपर सुबोधिनी-लेखनकी आज्ञा हुई और वह परिपूर्ण भी हुई. अब पुनः इसी शैलीमें अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या भगवदभिप्रेत नहीं थी. श्रीपुरुषोत्तमजी अतएव पांचवे और छठे श्लोककी व्याख्यामें कहते है : "नच पूर्वाज्ञप्तासम्पूर्तिदोषः यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु, अधिकं

न कार्यम्... इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधान—स्कन्धक्रमव्याख्यात्याजन दशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरमसामयिकमाधवभट्टकाश्मीरिशरीरशराहतिप्रभृतिभिः कार्यैरनुमीयते."

गंगासागर और मधुवन में जब सुबोधिनी-लेखनको बन्द करनेकी आज्ञा हुई तो रासपञ्चाध्यायीवाली गोपिकाओंकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी इन आज्ञाओंका उल्लंघन करना चाहा. वेणुनाद सुनकर जो गोपिकायें भगवान्के समीप पहुंच पायी उन्हें पुनः घर लौट जानेकी भगवान्ने आज्ञा दी थी, पर वे लौटी नहीं. श्रीमहाप्रभुने भी इसी तरह लेखन-कार्य बन्द नहीं किया. भगवदाज्ञाके उल्लंघनके इन दोनों प्रकारोंमें किन्तु एक विशेष अन्तर यह था कि गोपिकाओंनें भगवत्स्वरूप-सुखके लिए भगवद्-वाणीका उल्लंघन किया था, जबकि श्रीमहाप्रभुको भगवद्वाणीका उल्लंघन नामसेवार्थ भगवद्-विप्रयोगको सहते हुए करना पड रहा था. फलतः सूक्ष्मटीकाका तिरोधान हो गया. चतुर्थसे नवमतककी व्याख्या छोड़कर दशमस्कन्धकी व्याख्या लिखनेका भगवदादेश भी हुआ ही था और पुनः अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या लिखनेको प्रवृत्त होनेपर लिपिकार श्रीमाधव भट्ट काश्मीरी किसी पारधीके तीरसे आहत हो गये. यों सारी प्रतिकूलतायें केवल प्रतिकूल भगदिच्छाकी अनुमापिका थी. तभी तृतीय भगवदाज्ञा हुई—लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी. इस तृतीय भगवदाज्ञामें भगवदाग्रहकी स्पष्टता हुई. श्रीमहाप्रभु अतएव अपने आग्रही मनको भगवदाग्रहके अधीन होनेको मना रहे हैं.

"मेरे अन्तःकरण ! मेरी बात सावधानीसे सुनो कि कृष्णसे उत्कृष्ट एवम् निर्दुष्ट कोई तत्त्व न है और न हो सकता है. भागवतकी सुबोधिनी व्याख्या पूर्ण करनेके लिए जिन दो भगवदाज्ञाओंका उल्लंघन किया था वह अपने आग्रहिल अन्तःकरणके कारण ही हुआ. अन्तःकरणको भगवदाग्रहके अधीन होनेको समझाया जा सके तो अन्य सभी देहेन्द्रियादिकी वृत्ति और प्रवृत्तियों पर काबू पाया जा सकता है."

वैसे तो भागवतकी व्याख्याका प्रयोजन अन्ततः श्रीकृष्णके स्वरूपमें आसक्ति सम्पादित करना ही था. पर यह समस्या श्रीमहाप्रभुकी नहीं किन्तु अन्य पुष्टिजीवोंकी थी. भागवतके वास्तविक अर्थको प्रकट करनेसे पुष्टिजीवोंका उपकार होगा. वे श्रीकृष्णकी पुष्टिलीलाके वास्तविक रहस्यको समझकर उसमें आसक्त हो पायेंगे. जहांतक श्रीमहाप्रभुका प्रश्न है तो उन्हें तो इस प्रक्रियामें भागवतकी लौकिकी भाषा और परमतभाषा का भी चिन्तन-मनन-व्याख्यान करना ही पड़ता था. केवल भगवल्लीलाके मनन या प्रवचन तक सीमित रहा नहीं जा सकता. यों अनेक पुष्टिजीवोंके उद्धारार्थ परोपकारकी मनोवृत्तिसे श्रीमहाप्रभु स्वयम् भगवद्-विप्रयोग सहने उद्यत हुए थे.

जितना व्याख्यान सम्पन्न हो चुका वह पुष्टिजीवोंको पुष्टिमार्गपर प्रवृत्त करनेके लिए पर्याप्त है. इससे अधिक परोपकारकी आवश्यकता नहीं है. सर्वनिर्णय-निबन्धमें श्रीमहाप्रभु स्वयम् यह निर्णय दे चुके हैं कि भगवत्सेवाके अवसरमें हिस्सा बंटानेवाले धर्मोंका त्यागकर देना चाहिये. परोपकारादि धर्म भी यदि भगवत्सेवामें बाधक होते हों तो छोड देने चाहिये. "एतद्विरोधि यत्किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेद् । धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन् ।। २३९ ।। एतद्विरोधीति सामान्यवचनं धर्मादीनामुपलक्षणं...परोपकारादि सर्वधर्माणामपि क्षयिष्णवेव फलम्. अतः उभयोरन्तरं ज्ञात्वा परोपकारादिधर्माः न कर्तव्याः, यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति". कोई धर्म या कर्तव्य भगवत्सेवामें सहायक होता हो तो अनुष्ठेय है अन्यथा भगवत्सेवामें बाधक होनेपर परोपकार आदि धर्म भी त्याज्य समझने चाहियें. फलतः आत्मसमर्पणके बाद भगवत्सेवासे अधिक और कोई भी कर्तव्य पुष्टिजीवका हो ही नहीं सकता.

श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं कि समर्पणसे पूर्व सभी पुष्टिजीवोंकी स्थिति अस्पृश्य कुलमें उत्पन्न किसी सुन्दर स्त्रीकी तरह होती है. पर आत्मसमर्पणके बाद इन्हीं पुष्टिजीवोंकी स्थिति, उक्त सुन्दरी यदि किसी राजाके मनको भा जाये और वह उसे अपनी रानी बना ले ऐसी, सम्मानपूर्ण हो जाती है. इस असाधारण सम्मानकी प्राप्तिपर अभिमान भी कभी पैदा हो सकता है. और उस अभिमानके कारण कभी अपमानित होनेका अवसर भी प्राप्त हो सकता है. परन्तु अपनी पूर्वावस्थाकी अधमताका विचार करनेपर प्राप्त सम्मानित अवस्थामें थोडा-बहुत अपमान पश्चात्तापका विषय नहीं लगेगा. क्योंकि राजाके द्वारा अपमानित भी रानी जगतमें तो सम्माननीय ही मानी जाती है.

इसी तरह किसी प्रौढीभाववश भगवदाज्ञाके उल्लंघन करनेके कारण

अपमानित भी होना पडे तो अपनी पहलेकी असमर्पित अवस्थाका विचार करना चाहिये. जिस पुष्टिजीवने सर्वसमर्पण कर दिया उसे मानापमानकी क्या परवाह ? उसका कर्तव्य तो केवल भगवदाज्ञाके अनुसरणमें ही निहित है.

पुष्टिसृष्टि प्रभुने अपनी स्वरूप-सेवाके लिए प्रकट की है. भगवान् तो सत्यसंकल्प है, अतः भगवदाज्ञा शिरोधार्य करना ही पुष्टिजीवका प्रथम कर्तव्य है. अन्यथा स्वामिद्रोहका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा. और फिर चाहे विलम्बसे या अविलम्ब, जो फल हमारे स्वामी हमें देना चाहते हैं, वह तो स्वयमेव देंगे. अतः फलविलम्बकी चिन्ता किये विना हमारा कर्तव्य है हमारे स्वामीकी आज्ञाका पालन करना.

पहले गंगा-सागरके संगमपर और बादमें मधुबनमें जो दो भगवदाज्ञा प्राप्त हुई थी उनका पालन न हो पाया. अब तृतीय भगवदाज्ञा लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी हुई है (अर्थात् आसुर व्यामोह-लीलाकी) [1] इस आज्ञाका तो पालन करना ही पडेगा. फिरभी इसमे पश्चात्तापका कोई विषय नहीं है. जब हम सेवक हैं— जब हमारा सब कुछ हमारे स्वामीको समर्पित है— फिर लोकगोचर देह–देशके परित्यागकी आज्ञामें पश्चात्ताप कैसा !

हमारे स्वामी श्रीकृष्ण रुष्ट होनेपर किसी लौकिक स्वामीकी तरह निर्दय बन जायेंगे ऐसा तो सम्भव नहीं है. उनकी तो प्रत्येक आज्ञामें हमारा परम हित एवम् चरम सुख रहा हुआ है. अतः सब कुछ जब अपने स्वामी श्रीकृष्णको भक्तिपूर्वक समर्पित कर ही दिया है तब और क्या करनेको शेष रह जाता हैं? अतः आज्ञाके पालनमें ही अपनी कृतार्थताका अनुभव करना चाहिये और सुखी रहना चाहिये.

कभी–कभी विवाहिता पुत्रीके वयस्क हो जानेपर भी उसे उसके पतिके पास सुसराल भेजनेको पिताका मन नहीं मानता हैं. ऐसे वात्सल्य या मोह के वशीभूत होकर वह अपनी पुत्रीका हित करता है या अहित ? पुत्रीको उसके निजस्वामीके पास न भेजनेपर कन्यादानका क्या अर्थ रह जाता हैं – कोई पति ऐसी पितृगेहवासिनी पत्नीसे कैसे सन्तुष्ट हो पायेगा ?

१. प्राचीन सभी व्याख्याकार क्रमशः देहत्यागकी प्रथम आज्ञा देशत्यागकी द्वितीय और लोकत्यागकी तृतीय आज्ञा, अर्थ स्वीकारते हैं.

अपने देहके साथ भी ऐसा ही मोहजन्य व्यवहार देहके स्वामी श्रीकृष्णको कैसे सुहायेगा ? कैसे सन्तुष्ट कर पायेगा ? अतः यह विचार करना चाहिये कि आत्मसमर्पणरहित अन्य लौकिक जनोंकी तरह हमारी भी स्थिति होती तो क्या होता ?

शरीरका हठात् त्याग करना अशक्य कार्य लगता है. परन्तु सर्वदुःखहर्ता श्रीहरिके स्वरूपका विचार करना चाहिये कि साक्षात् नित्यलीलामें नित्य संयोग–सुखका दान, जब वे करना चाहते हैं तो दुःख कैसा ? अतः किसी भी प्रकारके मोहकी आवश्यकता नहीं है कि प्रभु लौकिक स्वामीकी तरह रुष्ट हों जायें तो क्या करना–या फलदानमें प्रभु विलम्ब करेंगे तो क्या होगा—या देह-देशके लोकगोचर त्याग करने पर पुष्टिजीवोंका उद्धार कैसे होगा—या श्रीमद्भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी सम्पूर्ण नहीं हो पायी इत्यादि-इत्यादि.

अपने इस अन्तःकरणके प्रबोधनको ग्रन्थके रूपमे उपनिबद्ध कर श्रीमहाप्रभुने यह प्रकट कर दिया है कि निज अन्तःकरणके उपदेशके व्याजसे श्रीमहाप्रभु उन सारे पुष्टिजीवोंके अन्तःकरणको सम्बोधित तथा प्रबोधित करना चाहते हैं, जिनमें भगवत्सेवासे अन्य किसी आध्यात्मिक या आधिदैविक फल प्रयोजन या कर्तव्य के प्रति अधिक आकर्षण पैदा हो सकता हैं. अतएव "तव कथामृतं तप्तजीवनम्" की सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है कि अमृतकी आवश्यकता मृत्युके उपस्थित होनेपर है. अन्यथा स्वतः अमृतपानकी प्यास किसीको भी नहीं होती. इसी तरह भगवान्के स्वरूप और भगवान्की कथामें भी घनीभूत रस और तरलीभूत रस का सा अन्तर होता है. अन्यथा रासमें भगवान्के तिरोहित हो जानेपर उन्हें खोजनेके बजाय गोपीजनोंने भी भागवत कथाका आयोजन किया होता ! "रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेषः अन्यथा कथार्थमेव यत्नः कृतः स्यात्." अतएव "सेवायां वा कथायां वा" में 'सेवा और कथा' मुख्य कल्प हैं जबकि 'सेवा अथवा कथा' गौण कल्प है.

अतः सभी पुष्टिजीवोंको निश्चिन्त होकर यह निश्चित कर लेना चाहिये कि "भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्." अर्थात् भागवत-कथा भी वस्तुतः भगवत्सेवाका अंग हो तो उत्तम कल्प है अन्यथा गौण कल्प या अनुकल्प ही

है. इस तरह श्रीमहाप्रभु सेवांगभूत अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रकार उसे भगवान्‌की सेवामें अनन्यरुचि होनेकी प्रेरणाके द्वारा इस ग्रन्थमें दे रहे हैं.

प्रस्तुत संस्करण वि सं. १९८१ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण श्रीजीवनेशात्मज श्रीरणछोडलाल महाराजश्रीके प्रवन्धमें श्रीचीमनलाल हरिशंकर शास्त्रीजीने उस संस्करणका सम्पादन किया था. आर्थिक सेवा अनेक वैष्णवोंने मिलकर की थी. इन सभी महानुभावोंका हम कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं. इति शम्.

उदाहार.

અન્તઃકરણપ્રબોધ ગ્રન્થ પ્રકટ કરતાં અમોને સહજ આનંદ સ્ફુરે છે. આ ગ્રન્થ શ્રીસુબોધિન્યાદિ આલેખાયા પછી પરિણિત અવસ્થામાં લખાયેલ હોવાથી માર્ગીય મૂર્ધન્ય સિદ્ધાન્તનું સિંહાવલોકન કર્યું છે. તેથી શ્રીમહાપ્રભુજીનું પ્રભુસહ સાનુભાવતાનું પ્રદર્શન અને ઐતિહાસિક પ્રકાશનો લાભ આ ગ્રન્થદ્વારા ઉપલબ્ધ થાય છે.

અન્તઃકરણના મન, ચિત્ત એમ સામાન્ય પર્યાયો ટીકાકારોએ સ્વીકાર્યાં છે. મન વિગેરેનું સ્થાન હૃદય ગોલક હોવાથી હૃદયવાચક અન્તઃકરણ શબ્દનો અત્ર પ્રયોગ છે. શ્રીપુરુષોત્તમજી કહે છે કે—મનને વશ કરે તે દેવનો દેવ જાણવો. આ પ્રમાણાનુસાર મનને જ સાધવા માટે અન્તઃકરણપ્રબોધ છે. મનનું સ્વરૂપલક્ષણ—संकल्पविकल्पात्मकं मनः । કાર્યલક્ષણ कामजनकत्वं मनः । આ બન્ને લક્ષણ આધ્યાત્મિક થયાં. 'આધિદૈવિક લક્ષણ તો 'अनिरुद्धाविर्भावस्थानत्वम्' છે. આધિભૌતિક લક્ષણ योगिभिः शनैः संराध्यत्वम् । મનનું અણુ પરિમાણ છે. ચન્દ્ર દેવતા છે. कामः सङ्कल्पः विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा વિગેરે મનના ગુણ છે. તેથી તે ચિન્તા કરે એ સ્વાભાવિક છે.

વસ્તુતસ્તુ સેવકને ચિન્તારહિત કરી સેવકની સેવા આધિદૈવિકી બને એજ મુખ્યાશય આ ગ્રન્થનો છે. આ આશયને સ્વઅન્તઃકરણના વ્યપદેશથી ભક્તાન્તઃકરણને જ શ્રીમહાપ્રભુજી ઉપદેશે છે. અન્તઃકરણે ભગવાનની આજ્ઞાનું ઉલ્લંઘન કર્યું, દેહ અને દેશત્યાગની આજ્ઞા ન પાલી તેથી અપરાધી થયું. તેને ઉપદેશ આપવો જ જોઇએ. શ્રીગોપીજનોએ ભગવદાજ્ઞાનું ઉલ્લંઘન કર્યું હતું. શ્રીમહાપ્રભુજીએ દેહદેશત્યાગ કરવાની આજ્ઞાનું ઉલ્લંઘન કર્યું; તો સેવક પણ કરશે. આવી રીતે ભગવદાજ્ઞાને ઉલ્લંઘન કરવાની પ્રથા માર્ગમાં ચાલુ થવાના ભયથી અન્તઃકરણપ્રબોધ ગ્રન્થનો પ્રાદુર્ભાવ થયો, એમ કહેવું જરાય અતિશયોક્તિ ભરેલુ નથી. આ વાત સેવકને સમજાવવા શ્રીકૃષ્ણની ઉત્કૃષ્ટતા સાધવા શ્રીકૃષ્ણથી પર કોઈ ઉત્તમ દૈવ નથી, એમ સાબીત કર્યું છે. શ્રી પુરુષોત્તમજી કહે છે કે—શ્રીકૃષ્ણથી દૈવ એટલે દેવીનો સમૂહ ગોપીજનો—પર—એટલે ઉત્કૃષ્ટ નથી ભિન્ન નથી, માટે તેમનો દાખલો લઈ આજ્ઞાભંગ ન કરવો. સામાન્ય રીતે ટીકાકારો આજ્ઞાના વિષયો આ પ્રમાણે આલેખે છે.

૧ નિત્યલીલામાં—ભાગવતાર્થ પ્રકટ કરવાને માટે ભૂતલપર પ્રકટ થવાની આજ્ઞા,

૨ પરદેશમાં—વિયોગ ન સહી શકવાથી ત્રણ સ્કન્ધ પછી દશમસ્કંધ વિવરણ કરવાની આજ્ઞા.

૩ ગંગાસાગરમાં—દેહત્યાગની આજ્ઞા.

૪ મથુરામાં—દેશત્યાગ કરવાની.

૫ લોકગોચર આજ્ઞાના બે અર્થ છે—સંન્યાસ કરવાની અથવા લોકોદ્ધાર કરવાની.

(આ આજ્ઞા પાળી.)

આ આજ્ઞામાં દેહદેશપરિત્યાગની આજ્ઞા ન પાળી એ સામાન્ય મૂલ હેતુ છે. આજ્ઞા પાલન નથી થયું. એવું કહેવું એના કરતાં આજ્ઞાનું પાલન થયું છે એનું મર્મ જો શ્રીમહાપ્રભુજીના—શબ્દમાં નિકળતું જ હોય તો સુરમ્ય ગણાય એવા આશયથી શ્રીપુરુષોત્તમજી दिह ઉપચયાર્થ લઇ અને दिश અતિસર્જન દાનાર્થ લઈ એવો અર્થ કરે છે કે, ગ્રન્થ બાહુલ્ય અને ઉપદેશદાનાદિનો ત્યાગ કરો, એવી ભગવદાજ્ઞા થઈ, તે આજ્ઞાનું પાલન થઈજ ગયું છે. કારણ કે સૂક્ષ્મટીકાતિરોધાન, સ્કન્ધક્રમ વ્યાખ્યાનો ત્યાગ, દશમસ્કંધવિવરણાનન્તર શ્રીમહાપ્રભુજીના લેખક માધવભટ્ટ કાશ્મિરીને બાણ વાગ્યું અને ગ્રન્થબાહુલ્યમાં વિઘ્ન આવ્યું, વિગેરે કાર્યોથી ગ્રન્થબાહુલ્ય અને દાન ઉભય બંધ પડ્યાં અને આજ્ઞાનું પાલન થયું છે.

આધુનિક કેટલાક अत्र श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य આ શબ્દમાં શ્રીમહાપ્રભુજી શ્રીકૃષ્ણના દાસ હતા પરંતુ કૃષ્ણ કે–આચાર્યનો દાવો કરતા ન હતા. એમ કહી દીનતાદ્યોતક દાસ શબ્દોનો ગેરઉપયોગ કરે છે. શ્રીમહાપ્રભુજી પોતાને દાસ કહે છે, તેનો કહેવો સુંદર આશય છે તે જોવા શ્રમ લેશે.

શ્રીમહાપ્રભુજી તો પોતાને દાસ કહે છે તો સાક્ષાત્ શ્રીકૃષ્ણ કેમ કહેવાય?

नन्नु दासत्वकृष्णत्वे विरुद्धे भवतः कथम् ।
एवं हि संशये कार्या सद्भिरेवं समाहितिः ।
एवं हि भगवान् कृष्णो रसात्मा यत्र यादृशः ।
रसात्मत्वात् तदास्यं च मन्तव्यं तादृशं पुनः ।

अतो दास्यरसार्थाय प्रादुर्भूतं तदात्मना । स्वीयदैन्यभावनिरूपकम् । (श्रीगोकुलनाथश्री) पुष्टिमार्गीयफलरूपदास्यं प्राप्तस्य વિગેરે અનેક વચનોથી સિદ્ધ જ છે કે રસરૂપ ભગવાને દાસ્ય સેવા રસથી ભરેલા શ્રીમહાપ્રભુજીને પ્રકટ કર્યા તેથી આ દાસ્યસેવારસ શ્રીમહાપ્રભુજીમાં હોવાથી જ તે સાક્ષાત્ શ્રીકૃષ્ણ અથવા આચાર્યપદભૂષણ છે.

સૂક્ષ્મ ટીકાના તિરોધાન થવાની વાત શ્રીપુરુષોત્તમજી જ કહે છે. શ્રીવ્રજરાયજીની ટીકામાં પણ આપ જ સ્વહસ્તાક્ષરથી શોધે છે. સૂક્ષ્મટીકાનું તિરોધાન શ્રીગુંસાઈજીના વખતમાં પરસ્પર વૈમનસ્યના કારણથી થયું છે પરંતુ આ પ્રભુની ઇચ્છાધીન માનનાર સેવકને તો શ્રીપુરુષોત્તમજીએ કહ્યું તે જ માનવું યોગ્ય છે કે પ્રભુની અતિરહસ્યોદ્‌ઘાટન કરાવા ઇચ્છા ન હતી, માટે તિરોધાન થયું. પરંતુ શ્રીસુબોધિનીજી તો સમ્પૂર્ણ લખાયાં નથી એ વાત નિર્વિવાદ છે. શ્રીગોકુલનાથજી શ્રીમહાપ્રભુજીના નિકટ પ્રકટેલા છે. આ સ્કન્ધક્રમત્યાગ કરવાનું વૃત્તાન્ત તેમને મળ્યું છે અને તે પોતાની ટીકામાં લખે છે.

શ્રીપુરુષોત્તમચરણે 'आज्ञा पूर्वन्तु या जाता' શ્લોક ઉપર એક સ્વતંત્ર લેખ સ્વહસ્તાક્ષરથી જ લખ્યો છે, અન્ય કોઈ પ્રતિમાં નથી. આ લેખ ચાલુ જ ગ્રન્થમાં તેજ શ્લોક નીચે મુકયો છે. આ સ્વતંત્ર લેખ શ્રીપુરુષોત્તમજીએ ગ્રન્થ કર્યા પછી કેટલાક સમય વિલાબાદ લખ્યો હોય તેમ જણાય છે. મૂલ ગ્રન્થમાં બે આજ્ઞા ન પાળવાનું કારણ "तदकरणे बीजन्तु नाभिमानो न वा शास्त्रविरोधः किन्तु श्रीभागवतार्थप्रकटनार्थाज्ञाकार्यसम्पत्तिरेव" લખે છે. અને સ્વતંત્રમાં तत्कृतौ सर्वे आज्ञास न स्यात्, तेन च स्वाङ्गीकृतानामनुद्धारः स्यात्, तेन चोभयस्य (स्वस्य भगवतश्च) करुणत्वं न स्यात् આવી રીતે બન્ને આજ્ઞા ન પાળવાનું કારણ સરખું જ છે. પરન્તુ તૃતીયાજ્ઞામાં ભેદ પડે છે. મૂલ ટીકામાં लोकगोचर પદનો અર્થ સંન્યાસ કરે છે અને સ્વતંત્ર લેખમાં लोकगोचरनो અર્થ લોકપ્રસિદ્ધ સર્વોદ્ધાર કરવાની આજ્ઞા, (જે નિત્યલીલામાં શ્રીમહાપ્રભુજીને શ્રીઠાકુરજીએ કહી હતી તે સર્વોદ્ધાર) અર્થ કરે છે. એમ સ્વતંત્રમાં ત્રણ આજ્ઞાનો પણ ભેદ પડ્યો. તેથી અમુક સમય પછી આપનો વિચાર ઉદ્‌ભવ્યો તે સ્વતંત્રરૂપે લખાયો હોય એમ લાગે છે. યદ્યપિ ટીકાના અક્ષરો એક સમયે લખાયા હોય એમ જણાય છે. સાહી અક્ષરનો મરોઢ વિગેરે જોતાં એકજ સમયે આ ગ્રન્થ સાથે આ સ્વતંત્ર લખાયો હશે એમ અનુમાન થાય છે પરન્તુ ગ્રન્થનું વિવરણ પૂર્ણ થયા બાદ લખ્યો અને આજ્ઞાપૂર્વન્તુ શ્લોકનો વિકલ્પે દ્વિતીયાશય દર્શાવવાનો હેતુ શ્રીપુરુષોત્તમચરણનો હોવો જોઇએ એમ્ સ્પષ્ટ છે.

આખા ગ્રન્થનો સાર શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકાના અનુવાદના અંતિમ ભાગમાં છે. માટે પુનઃ લખતા નથી.

શાસ્ત્રી ચીમનલાલ. 'સાહિત્યભૂષણ' 'શુદ્ધાદ્વૈતરત્ન'

મુદ્રણપરિચાયક.

આ ગ્રન્થમાં અનેક પ્રતિ સમ્પાદન કરી છે. મારા સદ્‌ભાગ્યે શુદ્ધ અને પ્રાચીન પ્રતિ પ્રત્યેક ટીકાની હસ્તગત થઇ ગઇ, તેમાં શ્રીવ્રજરાયજીની ટીકા તો શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજ તરફથી ઉપલબ્ધ થઈ તે શ્રીપુરુષોત્તમજીએ સ્વહસ્તાક્ષરથી શોધિતવર્ધિત હોવાથી એક પ્રતિએજ મુદ્રણકાર્યસમ્પૂર્તિ કરી. શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકા તો નિજહસ્તાક્ષરથી જ આલેખેલી છે. તેથી અન્ય પ્રતિના સદ્‌ભાવે પણ તેનાથી જ કાર્યસંસિદ્ધ થયું. મને અન્ય પ્રતિ જોડે સંવાદિત કરતાં સમજાયું કે મૂલ લેખક પછી અત્યારે સો બસો વર્ષની અંદર અવતરણ કરનારા અતીવ અશુદ્ધ કરી દે છે. શ્રીહરિરાયજીની પ્રતિ માટે હું સંકાચાતો હતો પરંતુ મહાશય તેલીવાલા તરફથી પંડિતવર્ય ગટ્ટુલાલજીની સંસ્થાની એક નાજુક પ્રતિ ઉપસ્થિત થઈ કે જે શુદ્ધ અને પ્રાચીન હતી. સંતોષકારક હતી,

હવે પ્રત્યેક ટીકાની ખંડશઃ ગણના કરીએ.

(૧) શ્રીગોકુલનાથચરણની ટીકા–

પોરબંદર–શ્રીજીવનેશાચાર્યપુસ્તકાલયની ... ...પ્રતિ. ૨
કોટા–શ્રીછોટામથુરેશજીની શ્રીરણછોડલાલજીમહારાજદ્વારા ... ...પ્રતિ. ૩
સુરત–શ્રીવ્રજરત્નલાલજીમહારાજદ્વારા ... ...પ્રતિ. ૧
મુંબઇ–શ્રીગોકુલનાથજીમહારાજદ્વારા ... ...પ્રતિ. ૨
મુંબઇ–શ્રીગટ્ટુલાલજીની સંસ્થા. શ્રીયુત તેલીવાલાદ્વારા ... ...પ્રતિ. ૧

(૨) શ્રીરઘુનાથચરણની ટીકા–

જુનાગઢ–શ્રીગોકુલનાથજીમહારાજદ્વારા ... ...પ્રતિ. ૧
સુરત–શ્રીવ્રજરત્નલાલજીમહારાજદ્વારા ... ...પ્રતિ. ૧
મુંબઇ–શ્રીમગનલાલજીમહારાજદ્વારા ... ...પ્રતિ. ૧

(૩) શ્રીહરિરાયચરણની ટીકા–

પોરબંદર–શ્રીરણછોડલાલજીમહારાજદ્વારા... ... ...પ્રતિ–૧
મુંબઈ–મહાશય મૂલચન્દ્ર તેલીવાળાદ્વારા ... ...પ્રતિ–૧
પોરબંદર–સુરદાસજી દામોદાસ ભગવદીયદ્વારા ... ...પ્રતિ–૧

(૪) શ્રીવ્રજરાજચરણની ટીકા–

સુરત–શ્રીવ્રજરત્નલાલજીમહારાજદ્વારા ... ...પ્રતિ–૧

શ્રીપુરુષોત્તમજી મહારાજે સ્વહસ્તાક્ષરથી શોધિત વર્ધિત હોવાથી આ એક જ પ્રતિએ સમ્પૂર્ણ મુદ્રણ કાર્ય યથાયોગ્ય સિદ્ધ થયું. આ ટીકાની અન્યપ્રતિ અનેક સ્થલે શોધવા છતાં ઉપલબ્ધ થતી નથી, જે ભાગ શ્રીપુરુષોત્તમજી મહારાજે સ્વહસ્તાક્ષરથી સમ્પૂરિત કર્યો છે તે ભાગ અમે (   ) કાઉંસમાં મુકયો છે. અને બે સ્થલે ત્રણ ચાર અક્ષર જેટલો ભાગ ખંડિત થએલ છે. વધારે ખંડિત થયો નથી તે ભાગ......ચિન્હથી જણાવ્યો છે.

(૫) શ્રીપુરુષોત્તમચરણની ટીકા

સુરત–શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજદ્વારા ... ...પ્રતિ–૧
(આજ પ્રતિ નિજહસ્તાક્ષરની છે.)

કોટા—છોટામથુરેશજીની શ્રીરણછોડલાલજીદ્વારા ... ...પ્રતિ–૧
પોરબંદર—શ્રીરણછોડલાલજીદ્વારા ... ...પ્રતિ–૧

(ક) **સ્વતંત્ર લેખ**—શ્રીપુરુષોત્તમજી મહારાજે સ્વહસ્તાક્ષરથી નિજ પ્રતિમાં આલેખ્યો છે.

ઉપર મુજબ અનેક શુદ્ધ પ્રતિથી આ ગ્રન્થ સંશોધન આ દાસે કર્યું છે, જીવની અણુતા અને જીવસામર્થ્યાનુસાર શક્ય આયાસ કર્યો છે, પરન્તુ અત્રાશુદ્ધિ દ્રષ્ટચર થાય તો શોધિત વાચન કરવા વિનતિ કરું છું.

શ્રીમદ્‌ગોસ્વામિવર્ય શ્રીરણછોડલાલજી મહારાજે ફક્ત સાર્ધ વર્ષમાં પાંચ સાત ગ્રન્થો બહાર પાડ્યા, **શ્રીરણછોડલાલજીમહારાજ** નિજ પિતૃચરણના સ્મારક ઉપરાંત પણ સાંપ્રદાયિક સાહિત્ય માટે ઘણી જ ઉત્કંઠા રાખે છે. શ્રીસુબોધિનીજીનું પાંચ ટીકા સહિત મુદ્રણ કરાવાનો મહત્કાર્યારંભ પણ આપે શ્રીગોકુલથી તાર કરી કરાવ્યો. આ સર્વ વિદ્યાનુરાગ જ સૂચવે છે. આથી આખા સમ્પ્રદાયમાં આપને માટે સમ્પ્રદાયના મુખ્ય હિતેચ્છુ તરીખે પ્રત્યેક અગ્રગણ્ય વ્યક્તિની દૃષ્ટિ આપની તરફ આકર્ષાઈ છે કે આપશ્રી જીવનેશપ્રભુવત્ સમ્પ્રદાય-સંરક્ષણ અને સાહિત્યોદ્ધાર કરશોજ.

પૂર્વોક્ત સર્વ સાહિત્યસમર્પક શ્રીરણછોડલાલજી મહારાજ, શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજ, અને શ્રીમગ્નલાલજી મહારાજે ગ્રન્થ સાહિત્યપ્રદાનદ્વારા અતીવ ઉપકાર કર્યો છે. ભગચ્છાત્રનિષ્ણાત મગનલાલ શાસ્ત્રીજીએ મને આ ગ્રન્થાર્થ સૂચનાદિ દ્વારા સાહાય્ય વિતર્યું છે. તેમનો પ્રત્યેક શુભ પ્રવૃત્તિમાં આભારી સદા છું, શ્રીયુત સમ્પ્રદાયજ્ઞ તેલીવાલા મૂલચન્દ્રભાઇએ આ ષોડશગ્રન્થની સીરીઝ શ્રીજીવનેશપ્રભુના સાહાય્યથી આરંભી તેમાં હવે શ્રીયમુનાષ્ટક બાલબોધ, શ્રીકૃષ્ણાશ્રય, અને વિવેકધૈર્યાશ્રય ચાર ગ્રન્થ અવશિષ્ટ રહ્યા. મુક્તકંઠે કહેવું જોઇએ કે આ સીરીઝ પૈકી કેટલાક ગ્રન્થો અમે મુદ્રિત કરીશું પરન્તુ ષોડશો-દ્ધારનું માન્ય તો શ્રીજીવનેશપ્રભુદ્વારા તેલીવાલાને જ ઘટે છે. મુંબાઇમાં શ્રીઅનિરુદ્ધા-ચાર્યજી મહારાજે પોતાના પંડિતજી ભાઉશાસ્ત્રીજીને ગ્રન્થસંવાદિત કરવા આજ્ઞા અર્પી તેથી આપ-શ્રીનો પણ ઋણી છું. દામોદરદાસ સુરદાસ ભગવદીયની એક ટીકા શ્રીહરિરાયજીની મળી હતી. આ રીતે સાહિત્યનો ઉદ્ધાર કરવામાં વિના વિલંબે સાહાય્ય ગ્રન્થદાન ચાલુ રહે, એમ સર્વને પ્રભુ પ્રેરે, એ વિનતિ કરી વિરમું છું.

શાસ્ત્રી ચીમનલાલ હરિશંકર
'સાહિત્યભૂષણ' શુદ્ધાદ્વૈતરત્ન

શ્રીકૃષ્ણઃ

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥
चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेऽपि[1] मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥
समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥
सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥
सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
याऽपि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।
प्रौढाऽपि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।
लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।
इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥ १० ॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितोऽन्तःकरणप्रबोधः सम्पूर्णः ।

---

१ ' अपमाने वा ' इतिपाठः श्रीव्रजराजश्रीपुरुषोत्तमचरणानां टीकयोः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीगोकुलनाथचरणैर्विरचिता विवृतिः ।

दर्शयन् स्वस्य सौभाग्यं स्वीयानां भक्तिवर्त्म च ।
स्वमनोबोधवाक्यानि प्रकटीकृतवान् प्रभुः ॥ १ ॥
प्रणम्य पितृपादाब्जं चिन्तिताधिकदायकम् ।
स्वमनोबोधकाचार्यवचो व्याख्यातुमुद्यतः ॥ २ ॥
यद्यपीश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वतः ।
तत्कृपैव तदीयस्य तदर्थावगमे गुरुः ॥ ३ ॥
भविष्यतीति निश्चित्य प्रवृत्तोहं न चान्यथा ।
अतः स्वाचार्यचरणौ शरणं मम सर्वदा ॥ ४ ॥

अथ भगवान् पूर्णपुरुषः पुरुषोत्तमः स्वस्वरूपं श्रीभागवतं द्वादशस्कन्धात्मकं प्रकटीकृत्य तदर्थप्राकट्ये स्वातिरिक्तस्यायोग्यतां ज्ञात्वा स्ववागधिपतिरूपश्रीवल्लभाचार्यप्राकट्यं विधाय तदर्थप्राकट्ये आज्ञां च दत्त्वा तदर्थप्रकाशिकां सुबोधिनीं कारितवान् । तत्र क्रमेण स्कन्धत्रयकरणे कालविलम्बादाचार्यविप्रयोगासहिष्णुः सन् श्रीभागवततत्त्वार्थप्रतिपादकदशमस्कन्धविवरणार्थं विशेषाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्यैः स्कन्धक्रमं विहाय दशमस्कन्धविवृतिरेव कृता। तत्समाप्तौ स्वस्याचार्यमिलनविलम्बं ज्ञात्वा तद्विलम्बासहिष्णुः शीघ्रं स्वनिकटागमनार्थमाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्याः स्वसौभाग्यमौढिमवलम्ब्य स्वचिकीर्षितसम्पूर्णश्रीभागवतविवरणस्याजातत्वात् स्वस्य धर्ममार्गीयत्वात्तन्मार्गभावमौढ्या वारद्वयमाज्ञोल्लङ्घनं कृतवन्तस्तथापि भगवानाचार्यमिलनं स्वस्यात्यन्तावश्यकमिति श्रीभागवतविवरणार्थं दत्ताज्ञामप्यन्यथाकृत्वातिकृपारोषपूर्वकं पुनः स्वनिकटागमनार्थं तृतीयामाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्या अत्यन्तं भगवदाग्रहं दृष्ट्वा पूर्वमाज्ञाद्वयोल्लङ्घनभावमौढिस्थानं स्वकीयमन्तःकरणमेवेति ज्ञापनाय तदेव बोधयन्ति । अन्तःकरण मद्वाक्यमिति ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यपि, अत्रार्थे सर्वेन्द्रियोपयोगात्सर्वेन्द्रियप्रबोध उचितस्तथापि तेषामन्तःकर-

णाधीनत्वाद्यथा राजनि निगृहीते सर्वमेव राज्यं निगृहीतं भवति । तथान्तःकरणे प्रबोधिते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि प्रबोधितानि भवन्तीत्यन्तःकरणमेव प्रबोधयन्ति । मद्वाक्यं सावधानतया शृण्विति । यद्यपि मद्वाक्यं शृण्वित्येतावतैव प्रबोधसिद्धेर्यत् सावधानतयेत्युक्तं, तस्यायमाशयः । यथा स्वस्य धर्मिमार्गाभिमानमौढ्या व्रजसीमन्तिनीभिः फलप्रकरणे भगवदाज्ञोल्लङ्घनेन स्ववीर्यसम्पत्तिः साधिता, तथाहमपि सम्पूर्णश्रीभागवतविवृतिं साधयिष्यामीत्याग्रहोऽस्मिन्नर्थे वैपरीत्यादनुचितः । वैपरीत्यं तु व्रजसीमन्तिनीभिः प्रियवाक्यानि फले प्रतिबन्धकानीतिभावमौढ्या निराकृतानि, प्रकृते तु भगवदाज्ञा †फलसाधिकेति तत्राग्रहो विपरीतफलकः, अनिष्टपर्यवसानादितिवाक्यश्रवणे सावधानतयेत्युक्तम् । कदाचिदतिमौढ्या विलम्बकरणे बाधकमाहुः । कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति । कृष्णात्फलरूपात्परमतिरिक्तं दैवं परमेष्टरूपम् । दैवमितिपदाद्दिवुधातूक्ताः* सर्वेप्यर्था अत्र विवक्षिताः । तव धर्मिमार्गेक्रीडास्थानमिदमेव । (क्रीडायां) विजिगीषाप्यत्रैव । (भक्तेन सह) स्वमार्गीयव्यवहारोपि । (भक्ताय स्वमाहात्म्यद्योतनेन) द्युतिरप्यत एव, नो चेत्तद्व्यतिरेकेण शुष्कतैव । (भक्तानां) समयविशेषे स्तुतिरपि । (भक्ताय मोददानं यथा कालीयदमनेन) । मोदोऽपि तथा । भावविशेषजनितमदोपि । परमनिर्वृतिजनितः स्वप्नोपि । स्वप्नानन्तरं भावविशेषसूचककटाक्षसूचितरसेच्छापि । तदनन्तरं स्वाभिलषितस्थानगतिरपि, (भक्तसमीपगमनम्) इत्यादिकं सर्वमेव पूर्वभावमौढ्या बाध्यत इत्यनिष्टहेतुत्वात् मौढिस्त्याज्येत्यत उक्तं कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति । ननु श्रीभागवतविचारः पुरुषोत्तमपर्यवसाय्येवेति कदाचिन्मौढिरुचिता भवेदिति शङ्कानिराकरणार्थमुक्तम् । वस्तुतो दोषवर्जितमिति । अत्रायं भावः, यद्यपि श्रीभागवतविचारः पुरुषोत्तमपर्यवसायी तथापि विचारे क्रियमाणे स्वसिद्धान्तनिरूपणार्थं तद्विरुद्धशास्त्रान्तरीयसिद्धान्तनिराकरणमावश्यकमेव, भगवदाज्ञाहेतुकफलविचारे एतद्भावातिरिक्तभावप्रवेश एव फलमार्गे दोष इति वस्तुविचारे क्रियमाणे फलस्यैव निर्दुष्टत्वं भावान्तरप्रवेशहेतुवस्तुनः सर्वात्मना न निर्दुष्टत्वमितिज्ञापनायोक्तं वस्तुतः स्वरूपतो न निर्दुष्टत्वम् ॥ १ ॥

एवं प्रबोधनेपि पूर्वमौढिकृताज्ञोल्लङ्घनजनितापराधेन यदि भगवानपमानेन फलविलम्बं कुर्यात्तदोभयभ्रंशादेकमपि कार्यं न सिध्येदिति श्रीभागवतार्थविवृतिसमाप्त्याग्रह एव समीचीन इति मनःकलिलं लौकिकदृष्टान्तेन कैमुतिकन्यायेन निरस्यन्ति, चाण्डाली चेदिति ।

† भगवत्प्राप्तिरूपत्वात् ।

* दिवु क्रीडा–१ विजिगीषा–२ व्यवहार–३ द्युति–४ स्तुति–५ मोद–६ मद–७ स्वप्न–८ कान्ति–९ गतिषु १० ।

१ तवेति पाठः ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चाण्डालजातीया राजपत्नी जाता राज्ञा पत्नीत्वेन परिगृहीता, इतरपत्न्यपेक्षयाधिकं मानिता कदाचित्प्रमादतस्तस्या अपराधाच्चेदपमानोपि कृतस्तदा मूलतः राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत् राजपत्नीत्वं न गच्छतीत्यर्थः । यद्यप्यस्यां यज्ञसंयोगाभावात्पत्नीत्वं न सम्भवति तथापि *भोग्या जातेतिपदं विहाय पत्नीपदोपादानाद्यथा पत्नी त्यागयोग्या न भवति, तथैवास्यामप्यङ्गीकाराभिमानो ज्ञापितः । तेन स्वातिरिक्तादृश्यत्वस्पर्शायोग्यत्वान्यविनियोगाभावादयो धर्मा ज्ञापिताः । यदि मूलपदेन चाण्डालीत्वमुच्यते तदा मानस्य चाण्डालीत्वमेव हेतुः स्यान्न तु राजपत्नीत्वम् । अत्र तु सम्मानने राजपत्नीत्वमेव हेतुत्वेनोच्यते न तु चाण्डालीत्वम्, अन्यथा पत्नी जातेतिपदं व्यर्थं स्यात् । तस्मात्तत्कृतापमानेपि तया न खेदः कार्यः, राजपत्नीत्वरूपमूलस्य विद्यमानत्वात् । यथा फाल्गुने मासि प्राचीनपत्रापगमेऽपि समूलस्य वृक्षस्य नूतनपल्लवाद्युद्गमेन पुनर्यथापूर्वत्वं तथा पत्नीत्वे सति पुनः पूर्ववदेव भविष्यतीति विचार्य खेदो न कार्यः । चेदिति पदादयोग्यतायामपि दैवगत्याङ्गीकारेपि यत्रैवं व्यवस्था लौकिके, तत्र सर्वथाङ्गीकारयोग्ये, अङ्गीकर्तुरलौकिकत्वे, अङ्गीकारस्य च नित्यत्वे, तवेयं फलविलम्बचिन्ता सर्वात्मना नोचितेति नाग्रहः कर्त्तव्यः । यदि विलम्बः सोपि रसस्य संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्विलम्बस्य विप्रयोगरसात्मकत्वात् फलमध्यपात्येवेति सर्वमवदातम् । एवमलौकिकप्रकारेण स्वमनःप्रबोधनेनानुषङ्गिकी स्वमार्गीयाणामपि शिक्षा ज्ञापिता ॥ २ ॥

यद्यपि फलविलम्बजनितः खेदो नास्ति तथापि भावमौढ्यभिमानहानिजनितः पश्चात्तापो जात इति खिन्नमन्तःकरणं प्रबोधयितुमाहुः समर्पणादिति ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

मानहानिजनितः पश्चात्तापः स्वसमान एवोचितो न तु स्वीयत्वेन हितार्थं प्रभुकृतमानहानौ । भावजनितमानोत्पत्तियोग्यतापि तव प्रभ्वसाधारणसम्बन्धेनैव जाता न तु ततः पूर्वमपीति विचारयेति ज्ञापनार्थमुक्तं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थित इति । सदा, असमर्पणदशायामपि उत्तमः पूर्वोक्तभावयोग्यः किमहं स्थितः ? । तस्मान्मम पूर्वोक्तभावजननयोग्यताऽभावरूपाऽधमता, का भाव्या, का कीदृशी भाव्या, विचारणीया । कीदृशीतिपदादधमताया निरवधित्वमुक्तम् । यस्मात्सर्वात्मना पश्चात्तापहेत्वभावस्तस्मात्त्वयास्मिन्नर्थे पश्चात्तापो न कर्त्तव्यः ॥ ३ ॥

* भोग्याया यथेच्छं त्यागो विधीयते । न तु पत्न्याः ।

यद्यपि पश्चात्तापहेत्वभावात् पश्चात्तापत्याग उचितस्तथापि फले बहुकालविलम्बश्चेत्तदा किं कार्यमिति सन्दिहानमन्तःकरणं बोधयन्ति सत्यसङ्कल्प इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यः यथार्थः सङ्कल्पः मनोविचारो यस्य तादृशत्वाद्विष्णुः बाह्याभ्यन्तरभेदेन रसव्याप्तः । अन्यथा फलदाने विलम्बं न करिष्यति । अस्मिन्नर्थेन्यथाभावशङ्कानिराकरणार्थं तुशब्दः । तस्मात्त्वया फलविलम्बसन्देहमपि त्यक्त्वा प्रभ्वाज्ञैव कार्या सततं, न तु भावमौढ्या कदाचिदप्यन्यथाभावः कार्यः । अकरणे बाधकमाहुः, स्वामिद्रोहोन्यथा भवेदिति । अन्यथा आज्ञाया अकरणे स्वामिद्रोहो भवेत् । आज्ञैव कार्या सततमित्येतावतैव आज्ञाकरणसिद्धावपि बाधकोक्तेरयमाशयः । यथा फलप्रकरणे व्रजसीमन्तिनीनां भावमौढ्या प्रभ्वाज्ञाया अकरणेपि कार्यं सिद्धं, तथा ममापि सेत्स्यतीत्यज्ञाननिवृत्त्यर्थमुक्तं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेदिति । अस्यायमर्थः, व्रजसीमन्तिनीनां भावमौढ्या आज्ञोल्लङ्घनं प्रभोः स्वस्य च पुरुषार्थसाधकं जातम् । तद्दृष्टान्तेन तवैवङ्करणे उभयोरपि विपरीतफलकत्वज्ञापनाय बाधकत्वमुक्तम् । बाधकत्वे हेतुः, तासां प्रभ्वाज्ञोल्लङ्घनं फलप्रतिबन्धकनिराकरणे उपयुक्तं जातं, तेन प्रभोस्तासां च निरवध्यानन्दः सिद्धः । तव त्वाज्ञोल्लङ्घनं प्रभुदित्सितफलप्रतिबन्धकत्वेन प्रभोः क्रोधजननेन, तेन क्रोधेन तव फलविलम्बेन च, प्रभ्वपराधस्तव चानिष्टं भवेदिति तत्सर्वात्मना नैव कार्यमित्येतदर्थमुक्तं, स्वामिद्रोहोन्यथा भवेदिति ॥ ४ ॥

एवं सोपपत्तिकमाग्रहाभावमुपपाद्य कदाचित्पूर्वकृताग्रहेण प्रभुकोपे कथं स्वाभिलषितसिद्धिरिति सन्दिहानमन्तःकरणं प्रबोधयन्ति सेवकस्य त्विति ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

मया यत्पूर्वश्लोक उपपादितं, तत् सेवकस्यासाधारणस्वाभाविकधर्मत्वेन तच्चेत्त्वयि भविष्यति तदाऽसाधारणधर्मं दृष्ट्वा प्रभुरपि स्वस्वामित्वासाधारणधर्मं सेवकज्ञानागोचरमपि सेवके करिष्यति। ननु हठदशायामपि मयि सेवकत्वस्य विद्यमानत्वात् स्वामिन्यपि सहजस्वामित्वासाधारणधर्मस्य विद्यमानत्वात् कथं फलविलम्ब इति सन्देहनिवृत्त्यर्थं फलविल-

म्बहेतुं सेवकधर्मं निरूपयन्ति, आज्ञेति । आज्ञा प्रभ्वाज्ञा पूर्वं प्रथमतो गङ्गासागरसङ्गमे या जाता पश्चाद्द्वितीया या आज्ञा मधुवने मथुरायां जाता तदाज्ञाद्वयमपि मया न कृतम् । ननु तदाज्ञाद्वयं किं विषयकं यन्न कृतं तत्राहुः, देहदेशपरित्याग इति । पूर्वाज्ञाया विषयो देहपरित्यागः । द्वितीयाज्ञाया विषयो देशपरित्यागः । ननु बलात्कारेण देहपरित्यागस्य दोषरूपत्वात् कथं तदाज्ञासम्भवः । तदकरणे च कथं दोषसम्भव इति चेत्सत्यं, कर्माधीनदेहे प्रारब्धभोगसमाप्तिव्यतिरेकेण बलात्कारेण देहत्याग एव दोषसम्भवः । यत्र केवलं भगवदिच्छाधीनावेव देहग्रहणपरित्यागौ तद्देहस्यालौकिकत्वात्तदाज्ञया परित्यागो न दोषायेति ज्ञात्वापि यत्तदकरणं तस्याज्ञोल्लङ्घनहेतुत्वात् प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तम् । देशपरित्यागः स्पष्टः । एवमाज्ञाद्वयाकरणेऽनिष्टहेतुत्वं ज्ञात्वा तृतीयाज्ञा कृतेत्याहुः, तृतीयो लोकगोचर इति । तृतीयः परित्यागः लोकप्रसिद्धस्मृत्यादिशास्त्रेषु गोचरो विषयः संन्यासग्रहणपूर्वकं गृहपरित्यागः स कृतः । यद्यप्यत्र कृत इति शब्दो नास्ति तथापि पूर्वाज्ञाद्वयकरणनिषेधादत्र च कृत इति शब्दाभावेपि करणमायाति । यद्यपि पूर्वोक्ताज्ञाद्वयाकरणापराधः सम्भवति, तथापि तृतीयाज्ञाकरणेन तयोरप्याज्ञयोः करणं जातमिति नापराधः ।

तथापि, आज्ञोल्लङ्घनजनितापराधेन यदि फलविलम्बं कुर्यात् प्रभुस्तदा तज्जनितः पश्चात्तापो भवत्येवेति कथमपराधनिवृत्तिरितिसन्देहे समाधानमाहुः, पश्चात्ताप इति

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

फलविलम्बेपि विलम्बस्य दण्डस्थानीयत्वात्सेवकेन पश्चात्तापो न कर्त्तव्यः । तत्र हेतुः, सेवकोहमिति । अहं सेवकः सेवाकरणयोग्यः । आज्ञाद्वयाकरणस्य सेवाप्रतिबन्धकत्वं ज्ञात्वा शीघ्रं सेवार्थं विलम्बजतापेन शिक्षामिव प्रतिबन्धनिवृत्तिं विधाय पुनः सेवार्थमेव विलम्बं न कृतवान् इति न मम पश्चात्तापः । यतोहं सेवकः, न चान्यथा । यदि मयि सेवकत्वं न मन्येत तदापराधेनोपेक्षामेव कुर्यात्, न तु स्वीयत्वं ज्ञात्वा विलम्बजतापरूपशिक्षां कुर्यादित्यत उक्तं, न चान्यथेति, अस्मिन्नर्थेन्यथाभावो नास्तीत्यर्थः ।

ननु यथा लोके 'राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वे'ति लौकिकप्रभुन्यायेन तापानन्तरमप्युपेक्षामेव कुर्यादिति चेत्तत्र बाधकमाहुः, लौकिकप्रभुवदिति । लौकिकाः प्राकृता जीवाः प्रभवो लोके प्रभुत्वेन व्यवहार्याः, तद्वद्भगवान्न द्रष्टव्यः न ज्ञातव्यः । तत्र हेतुः, यतः कृष्णः फलात्मा प्रभुश्च । लौकिकप्रभूणां प्राकृतत्वात्तेषामङ्गीकारस्यानित्यत्वादङ्गीकृतस्याप्युपेक्षा सम्भवति, प्रकृते प्रभोरलौकिकत्वेन तदङ्गीकारस्यापि नित्यत्वेन अङ्गीकृतोपेक्षैवासम्भावितेति ज्ञापनायोक्तं, न द्रष्टव्यः कदाचनेति । अत एव पितृचरणैरुक्तं 'अङ्गीकृतजनजनितापराधकूटक्षमाविनोदोस्य । अङ्गीकृतिश्च नित्या वदन्तु

कोन्योस्य साम्यमिया'त्वेनाङ्गीकारस्य नित्यत्वे न सन्देहः । कदाचनेति भूतभविष्यद्वर्तमानकालेपीत्यर्थः ॥ ७ ॥

यद्यप्युपेक्षां न करिष्यति, तथापि, अपराधस्य जातत्वात्पुनः पूर्ववत्तादृशीं कृपां न करिष्यतीति मनःसन्देहनिवृत्त्यर्थमाहुः, सर्वं समर्पितमिति ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

त्वयि पूर्वं कृपासीदेव, यतस्त्वया सर्वमेव समर्पितं, तत्रापि भक्त्या भक्तिमार्गानुसारेण, न तु विहितत्वाद्युपाधिना, तस्मात्त्वं फलरूपभक्तिमार्गाङ्गीकारेण कृतार्थ एवासि । मध्ये प्रौढयाज्ञोल्लङ्घनजनितापराधेन अन्तराये सति क्लेशं प्राप्तवानसि । अतस्तमाग्रहं परित्यज्य प्रभ्वाज्ञां कृत्वा पुनः पूर्ववदेव सुखीभव यथापूर्वं सुखं प्राप्नुहि । ननु, अङ्गीकारस्य नित्यत्वात्फलमार्गीयं सुखं यद्यपि दास्यति तथापि पूर्ववत्सर्वात्मना दास्यति न वेति सन्देहजनितक्लेशमग्रिमदृष्टान्तेन दूरीकुर्वन्ति । प्रौढापीति ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

फले प्रभुः तारतम्यं तदा कुर्याद्यदि त्वदपेक्षा न स्यात्, यस्यापेक्षावश्यकी तस्य दोषमप्यनङ्गीकृत्य फलं ददात्येव । पूर्वोक्तं दृष्टान्तमेव विवृण्वन्ति । यथा प्रौढा रमणयोग्या स्वकीया दुहिता तस्यां स्नेहाधिक्यात् तस्या वरे भोक्तरि भोगावश्यकदशासमये यदि न प्रेष्यते तदा वरः स्वाभिलाषाया अपूर्त्याऽसन्तुष्टो भवति । प्रेष्यते चेत्सन्तुष्ट एव भवति । अपि शब्देन यद्यपि पाणिग्रहणमारभ्यैव तस्य भोगेच्छास्त्येव, तथापि तस्यां स्वोपमर्दासहिष्णुत्वेन विलम्बमपि सहते । सहिष्णुत्वदशायां विलम्बकर्त्तरि असन्तुष्ट एव भवति । तथा प्रभोः सर्वात्मना स्वापेक्षासमये यदि अपेक्षां ज्ञात्वा कार्यसंपत्तिर्न क्रियते तदा प्रभुरसन्तुष्ट एव भवति । तस्मादयं विलम्बः प्रभोः स्वाभिलषितसिद्ध्यभावहेतुक इति, विलम्बाभावे पूर्ववदेव सर्वात्मना स्वाभिलाषापूर्त्यर्थं फलं दास्यत्येवेत्यस्मिन्नर्थे विलम्बस्त्याज्य एवेत्यत उक्तम् । तथा देहे न कर्त्तव्यमिति । देहे देहत्यागविषये सर्वात्मना प्रभुसन्तोषाभावाद्विलम्बो न कार्यः । यथा दुहितृप्रेषणविलम्बे स्नेहो हेतुः । तन्निराकरणपूर्वकप्रेषणे वरसन्तोषेणोभयकार्यसिद्धिस्तथात्राप्याग्रहहेतुत्यागपूर्वकमाज्ञाकरणेनोभयकार्यसिद्धिरिति सर्वात्मना प्रभुसन्तोषार्थं देहत्यागविलम्बहेतुर्हठस्त्याज्य एव ।

ननु यद्यप्यस्मिन्नर्थे हठोऽनुचितस्तथापि भगवदभिप्रेतश्रीभागवतार्थप्राकट्येन लोके परमोत्कर्षः सिद्ध्यतीति कदाचिद्यत्किञ्चिद्विलम्बेच्छा सम्भवति । तस्या अपि फलविलम्बहेतुत्वेन तां निराकुर्वन्ति, लोकवदिति ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

यद्यपि भगवदभिप्रेतश्रीभागवतार्थप्राकट्येन जैमिनिव्यासादिवत् श्रुत्यविरुद्धालौकिकशास्त्रार्थप्राकट्येन लोक एवोत्कर्षः सिद्ध्येत् । नत्वलौकिकस्वसिद्धान्तफलानुभवहेतुरुत्कर्षः सिद्ध्यति । लोकोत्कर्षसिद्धौ जैमिनिव्यासाद्युत्कर्षवल्लौकिक एवोत्कर्षः सेत्स्यति, न तु स्वमार्गीयोत्कर्षोपि । तस्मात्तदुत्कर्षासिद्धौमे मम स्वमार्गीयफलभोक्तुः पूर्वोत्कर्षफलविचारस्य स्वमार्गीयफलविलम्बहेतुत्वात्किं फलं स्यान्न किमपीत्यर्थः । स्वमार्गीयफलविचारे यत्र मुक्त्यादीनामपि निःफलत्वं तत्र पूर्वोक्तलौकिकस्यापि फलत्वगणना सर्वात्मना दूरापास्तेति ज्ञापनायोक्तम्, किं स्यादिति । अत एतत्फलतारतम्यविचारेण त्वयापि सर्वात्मना फलसिद्धिविलम्बाभाव एव विचारणीयो न त्वन्योपि विचारः कर्त्तव्य इति ज्ञापनायोक्तम् । विचारयेति ॥ ९ ॥

यद्यपि फलविलम्बाभाव एव विचारणीयस्तथापि बलात्कारेण शरीरत्यागस्य स्वतोऽशक्यत्वात् कथं सम्भवतीति सन्देहनिवारणप्रकारमाहुः । अशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

यद्यपि बलात्कारेण शरीरत्यागः स्वकर्तृकश्चेत्स्यात्तदाऽशक्यः स्यात् । प्रकृते शरीरत्यागस्तु भगवदिच्छाकर्तृक इति न स्वस्याशक्यत्वम् । यतोऽशक्यादिसर्वदुःखहर्ता यो हरिः स एव सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन स्थित एवास्ति । अत्र हरिपदोक्त्या देहत्यागोपि फलान्तरायदुःखदूरीकरणार्थमेव । अतो लोके अशक्यस्याप्यनायासेन साधकत्वमुक्तं भवति । तस्मात्फलविलम्बाभावार्थमेतावत्कर्तरि मोहं मा गाः, मोहं चित्तविक्षेपं मा गा, न प्राप्नुहि, कथञ्चन केनापि प्रकारेण आज्ञोल्लङ्घनजनितापराधफलविलम्बविषये आज्ञोल्लङ्घनात्पूर्वसामयिकफलानुभवे, आज्ञाकरणानन्तरं फलानुभवतारतम्यविषये च सर्वात्मना वैयग्र्याभावबोधनायोक्तम्, कथञ्चनेति । अतः परमुक्तार्थमुपसंहरन्ति ॥ १० ॥

एवं प्रबोधनेन सर्वात्मना वैयग्र्यनिवृत्तिर्जातेति ज्ञापनायाहुः । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितमन्तःकरणप्रबोधः समाप्तः ।

इतीति समाप्तौ । श्रीकृष्णदासस्य श्रीकृष्णपदेन भक्तसहितलीलारसाविष्टत्वं ज्ञापितं, तद्दासत्वेन शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपदास्यं प्राप्तस्य तत्रापि वल्लभस्य प्रभोः शुद्ध-

पुष्टिमार्गीयफलरूपदास्यप्राप्तानां च वल्लभस्यात्यन्तं प्रियस्य तादृशस्य स्वचित्तं प्रति हितं वचः, हितं हितकारि । वचसि हितमिति पदोपादानेन वचनस्य आप्तवाक्यत्वेन प्रामाण्यावधारणेन चित्तस्य सर्वात्मना वैयग्र्याभावः सिद्ध इति ज्ञापनायोक्तम् । चित्तं प्रतीति । एवं प्रबोधनेन स्वचित्तस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयपरमफलानुभवयोग्यतां निःसन्दिग्धामुपपाद्य एतच्छ्रवणेन स्वमार्गीयाणामपि स्वाधिकारानुसारेणापि भक्तिमार्गीयफलं सिद्ध्यतीति ज्ञापनायाहुः, यदाकर्ण्येति । यद्वच आकर्ण्य आसमन्ताच्छ्रुत्वा । यद्यपि वचः श्रुत्वेत्येतावतैव श्रवणसिद्धावपि आसमन्तात्कथनेन साभिप्रायश्रवणं ज्ञापितम् । साभिप्रायश्रवणस्य फलमाहुः, भक्त इत्यादि । भक्तो भगवति स्निग्धो भवति । तदनन्तरमाचार्याणां फलविलम्बहेतुदूरीकरणसामर्थ्यं ज्ञात्वा स्वस्यापि फलविलम्बहेतुचिन्तां दूरीकरिष्यन्तीति चिन्तापरित्यागेन निश्चिन्ततां व्रजेत् प्राप्नोतीत्यर्थः ।

चित्तप्रबोधकाचार्यवचांसि विवृतानि वै ।
तेनाचार्याः प्रसीदन्तु स्वीये मयि सदा स्वतः ।
इति श्रीपितृपादाब्जपरागघनिना मया ।
श्रीवल्लभेन विरचिता विवृतिः पूर्णतामियात् ॥ २ ॥
अर्पिता श्रीमदाचार्यपदाब्जेषु मया स्वतः ।
तेनैव कृतकृत्योस्मि इति मे निश्चिता मतिः ॥ ३ ॥

इति श्रीवल्लभविरचितान्तःकरणप्रबोधटीका समाप्ता ।



श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीरघुनाथचरणनिर्मितं विवरणम् ।

व्रजस्त्रीनेत्रनलिनवनालीषु परिभ्रमन् ।
लिप्सँस्तन्मधु योऽलित्वं प्राप तं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥

अथ भगवदीयानामनवरतभगवद्व्रजनसिध्यर्थं तत्प्रत्यूहदुरितजनितचिन्तासन्तानदवदहनदमनोपायमन्तःकरणप्रबोधमन्तःकरणं संमुखीकृत्य प्रतिजानते । अन्तःकरणमद्वाक्यं सावधानतया शृण्विति ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

अत्र स्वान्तःकरणव्यपदेशेनान्येषामन्तःकरणं प्रबोध्यत इति ज्ञेयम् । कृष्णात्परं नास्ति दैवमित्यादिवक्ष्यमाणं मदीयं वाक्यं सावधानतया प्रमादराहित्येन शृणु आकर्णयेत्यर्थः । तदेवाहुः, कृष्णात्परमिति । वस्तुतः परमार्थतो विचार्यमाणे 'कृषिर्भूवाचक' इत्यादिनिरुक्तिबलात्कृष्णात्परमन्यद्दोषवर्जितं दैवं देवः सर्वोपास्य ईश्वरो नास्तीत्यर्थः । अत एव गीतायां 'न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोन्य' इति । एवं बुध्यस्वेति वाक्यशेषः । ननु भगवदीयानामपि कदाचिल्लोकवत्कुतश्चिदभिभवो दृश्यतेऽतश्चाभिमानेन स्वावमानमाशङ्क्य, अहं भगवति कृतात्मनिवेदीति सर्वं मयि भगवदेककर्तृकमिति विमृश्य मदपमानमपि भगवतैव कृतमिति भगवत्यपि दोषस्फूर्तौ सदृष्टान्तं समाधानमाहुः ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

अत्र चाण्डालीतिपदं महादोषोपलक्षणपरं, तेन सदोषा या काचन राजपत्नीत्वेन परिगृहीता जाता राज्ञा च सत्कृता, कदाचित्तस्या अपमानेपि मूलतः स्वरूपात्क्षतिः हानिः का भवेन्न कापीत्यर्थः । अयं भावः । भगवत्सम्बन्धं विना सर्वेषामन्तःकरणं स्वभावतो दुष्टमेव । उत्कर्षस्तु भगवत्सम्बन्धकृत एव, तेन यत्सम्बन्धात्स्वयमुत्कृष्ट इत्य-

भिमन्यते, तत्कृतापमानेपि स्वरूपं तु स्वस्य पूर्वं सदोषमेवेति कुतस्तरां दोषावकाश इति । चकारादन्यैरपि राज्ञीत्वेन मानिता पूजिता । दृष्टान्ते एवं ज्ञेयं, सदोषाया अपि चाण्डाल्या राजपरिग्रहात् मानिताया अपि कदाचिद्राजकृततिरस्कारे स्वजातीयपतिकृतसंमाननतो वरं राजकृततिरस्कार इति, यथा सम्बन्धुत्कर्षात्स्वोत्कर्षः । एवं भगवत्कृतापमानेपि स्वस्य लाभ एव न हानिरिति भावः ॥ २ ॥

स्वस्यान्तःकरणं स्वयमेव कथं बोधनीयमित्यपेक्षायामाहुः ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

योहमिदानीमुत्तमत्वाभिमानेनावमतोस्मीति मन्ये स एवाहमात्मसमर्पणात्पूर्वमपि किं सर्वकालमुत्तम एव स्थित आसम्, प्रत्युत तद्विपरीत एवासमतो मम पूर्वापेक्षयाऽधमता का भाव्या भविष्यति । यतः पूर्वावस्थामनुस्मृत्य पश्चात्तापो भवेदित्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्वेवं बहुशः समाधानेपीदानीन्तनावमानवत्फलदशायामप्येवं कुर्याच्चेत्तदानीं कथं समाहितिरित्यपेक्षायामाहुः ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यो यथार्थो यः सङ्कल्पो व्रतं तस्माद्विष्णुः सर्वत्र वर्त्तमानः फलदशायामप्यन्यथा न करिष्यत्येवेति ज्ञेयम् । तुशब्दो निर्द्धारणे च । स च सङ्कल्पो यथा । 'द्विःशरं नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान् । द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते' । 'सकृदेव प्रपन्नो यो यस्तवास्मीति याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' । 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्येवमादिषु ज्ञेयः । येन भगवताहं सर्वतः पृथक्कृत्य स्वभजने योजितः स कथमग्रे त्यक्ष्यतीति भावः । स्वस्यावश्यकर्त्तव्यमाहुः । आज्ञैवेति । सततं निरन्तरमाचार्यद्वारा या आज्ञा सैव कार्या न तु कदाचिदप्यनाज्ञप्तमन्यमतसिद्धं वा । अन्यथा एवमकरणे स्वामिद्रोह एव भवेत् ॥ ४ ॥

नन्वाज्ञातिरिक्तकार्यमात्राकरणे प्राप्ते चिकीर्षितकार्यस्य कथं सम्पत्तिरित्याहुः ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सर्वस्वनिवेदिभक्तस्यायमेव धर्मो यत् स्वामी प्रभुरेव सर्वमैहिकामुष्मिकं स्वस्य स्वीयभक्तस्य करीष्यतीत्यर्थः । एवमनुसन्दधानेन स्थेयमिति भावः ॥ ५ ॥

अत्र विश्वासार्थमाचार्याः स्वानुभवमुद्भावयन्त्याज्ञा पूर्वमित्यारभ्य श्लोकद्वयेन ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ।
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ॥ ६ ॥
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ।
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

आज्ञापूर्वमिति । मां प्रति पूर्वं प्रथममाज्ञा देशपरित्यागविषयिणी गङ्गासागरसङ्गमे जाता । यापि पुनरन्या देहपरित्यागविषयिणी मधुवने मथुरायां जाता तदाज्ञाद्वयं मया न कृतमेव । तृतीया या लोकगोचरा लोकविषयिणी लोकानुद्धरस्वेत्येवंरूपा सा कृतेति शेषः ।

तत्राज्ञाद्वयभङ्गरूपेप्यर्थे सति कथं मम पश्चात्तापो, यन्मया न कृतमित्येवं रूपः, स न कथमपि सङ्गच्छत इति । अकरणे हेतुः, सेवकोहमिति । सेवकस्य सर्वस्वनिवेदिनो या काचन कृतिः सा भगवदिच्छयैवेति निश्चयात् । न चान्यथा अन्यसदृशो नास्मीत्यर्थः ।

ननु लौकिकप्रभूणामिवाज्ञाभङ्गस्यादोषत्वे भगवतोपि तथात्वापत्तिरित्यत आहुः । लौकिकप्रभुवदिति । कदाचिदासुरव्यामोहार्थं लोकवदाचरणेपि लोकवद्भगवान्न कदाचिदपि ज्ञेय इत्यर्थः । लोकवदाचरणं तु रामायणमौसलादिषु प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥

कस्मिन्नप्यंशे चिन्ता न कार्येत्याहुः ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखीभव ।
प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।
लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

सर्वं लौकिकालौकिकसाधारणं स्वीयं भक्त्या स्नेहपूर्वकं समर्पितमेवास्ति, अतः कृतार्थोसि कृतकृत्योसि सुखी भव, सुखेनैवं वर्त्तस्व, न मिथ्या चिन्तयेत्यर्थः । आलस्यादिना भगवदर्थे प्रियास्पदं स्वशरीरमनुपयुञ्जानं प्रति सदृष्टान्तं दोषमाहुः । प्रौढापीति । प्रौढा वृद्धा, अपि शब्दात्प्रौढापि दुहिता यदा स्नेहवशाद्वरे तद्भर्त्तरि न प्रेष्यते न याप्यते तदा तत्स्वामी वरस्तां विना प्रकारान्तरेण न तुष्टो भवतीति, यद्वद्यथास्ति तथा निवेदिते देहेऽप्यतिस्नेहवशादनुपयोगो भगवदसन्तोषकारक इत्यर्थः । लोकवदिति ।

साधारणलोकवन्मे यदि स्थितिः स्यात्तदेदानींतनावस्थापेक्षया तदधिकं लोके वेदे च किं स्यान्न किमपि, प्रत्युत सर्वनाश एव भवेदित्येवं त्वमेव विचारय, इदमुपपन्नं न वेति ।

ननु सर्वथा शरीराद्यशक्तौ भजनासम्भवे कथं निस्तार इत्यत आहुः ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

सर्वप्रकारेण कृत्यऽसाध्येऽर्थे हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमवलम्बस्व । अस्मिन्नर्थे कथमपि मोहं वैचित्यं मा गाः, मा प्राप्नुहि ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य वल्लभस्य, श्रीकृष्णदासस्येति जात्यभिप्रायेणैकवचनं वा । श्रीकृष्णदासस्य चित्तं प्रति हितमभीष्टसम्पादकं वल्लभस्येदमभिहितं वचो ज्ञेयम् । कथं तदित्यत आहुः, यदाकर्ण्येति । यद्वचः श्रुत्वा भक्तो नैश्चिन्त्यं प्राप्नुयादिति ॥ ११ ॥

इति * श्रीविठ्ठलेश्वरात्मजश्रीरघुनाथविरचितमन्तःकरणप्रबोधविवरणं संपूर्णम् ।

* केनचिल्लेखकेन श्रीप्रभुचरणानां विवरणमितिलिखितं, परमन्यत्र श्रीरघुनाथाभिधानस्योपलब्धेरत्र श्रीप्रभुचरणविरचितटीकाऽभावाच्च कृतिरियं श्रीरघुनाथानामेवेति निश्चीयत ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीमन्महानुभावश्रीहरिरायचरणविरचितविवृतिसमेतः ।

अथ श्रीवल्लभाचार्याः कृष्णेनातिदयालुना । निःसाधनजनोद्धृत्यै पुष्टिप्रकटनेच्छुना ॥
स्वास्यरूपाः स्वतस्तेन प्रभुणा प्रकटीकृताः । जीवोद्धाराय विवृतिं चक्रुर्भागवते मुदा ॥
तथा स्वतन्त्रभजनप्रकारस्योपदेशनम् । ततश्च भगवान्मत्वा स्वमार्गोद्घाटनं हि तैः ॥
आचार्यविप्रयोगं चासहमानोऽखिलेश्वरः । आज्ञाद्वयमदाद्देहदेशत्यागैकबोधिकम् ॥
ततः स्वप्रौढिविश्वतः करुणावशतोपि च । तद्द्वयोल्लङ्घनं चक्रुः पश्चात्तापस्ततोऽभवत् ॥
दोषस्फूर्त्या हरौ सङ्गविलम्बात्त्यागजाड्यात् । अङ्गीकृतिगतेश्चापि धर्मत्यागाच्च दुःसहः ॥
बालवत्पूर्वमाज्ञप्तः पश्चान्नेति यदब्रवीत् । मां तेनास्थिरवाक्त्वं हि हरौ दोषस्तदाऽस्फुरत् ॥
ततः समादधुश्चित्तं वचनैः स्फूर्तिमागतैः ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

अन्तःकरणपदतो बहिरज्ञानबोधनम् ॥
दोषसम्बन्धतश्चित्ते*स्वभिन्नत्वं हि मन्वते । आज्ञोल्लङ्घनतो दोषो भगवद्दोषभावनात् ॥
अत एव तदात्मीयं कर्तुमत्र समाहृतिः । अन्यथा प्रौढिदार्ढ्ये तु सर्वभावाच्च्युतिर्भवेत् ॥
मद्वाक्यमिति वाक्येषु स्वसम्बन्धो निरूपितः । निर्दोषभगवद्भावबोधकत्वात्तु सर्वथा ॥
अत एव समासो हि पदयोरत्र बोधितः । वाक्यमित्येकवचनं सर्वैरेकार्थबोधनात् ॥
स्ववाक्यस्य दुरूहत्वाद्भावप्रौढस्य चेतसः । अर्थानवगमस्तस्मात्सावधानत्वबोधनम् ॥
श्रवणोक्त्या सतात्पर्यमर्थावगमनं मतम् । श्रवणेनैव हि स्वीयविचारान्तरवारणम् ॥
एतदश्रवणे दोषोपीति विध्यवतारणम् । पश्चात्तापो द्विधा जातः प्रभुदोषसमागतेः ॥
आज्ञारूपस्वधर्मस्य परित्यागात्स्वदोषतः । तत्र तु प्रथमं दोषः प्रभौ नास्तीति कथ्यते ॥
तदारोपणतश्चित्ते भ्रान्तत्वमपि चोच्यते । न हि कृष्णे सदानन्दे दोषसम्भावनोद्भवः ॥
सच्छब्देन यतस्तत्र दोषाभावश्च रूप्यते । सर्वस्यैव तदात्मत्वान्न परं विद्यते ततः ॥

* 'स्वस्मिन् तत्त्वम्' पाठः ।

अतो वैषम्यनैर्घृण्ये अपि दोषौ न कर्तरि । नास्तीत्युक्त्या तदन्यस्य सत्ताभावो विबोध्यते ॥
दैवशब्देन पूज्यत्वं सर्वेषां ज्ञापितं हरौ । तस्यैव च परत्वेन सर्वोत्कृष्टत्वबोधनम् ॥
जगत्पूज्ये भगवति दोषसत्ता कथं भवेत् । अन्येषामपि पूज्यत्वं तद्विभूतित्वतोपि हि ॥
भृगवे हरिणा स्वस्य दोषाभावो विबोधितः । निर्दोषपूर्णगुणता सर्वत्रैव निरूपिता ॥
सर्वेषां भाग्यरूपत्वं दैवशब्देन चोदितम् । यथा भाग्यं विना सर्वसाधनं विफलं मतम् ॥
तथा तत्प्रतिकूल्ये न देवानां फलदातृता । अत एवास्मदाचार्यैर्ग्रन्थे सेवाफलाभिधे ॥
तदान्यदेवसेवापि व्यर्थेति विनिरूपितम् । प्रायश्चित्तानि चीर्णानीत्यादिवाक्यानि सन्ति हि॥
स्वसम्बन्धेन सर्वेषां फलदे दोषवारके । स्वरूपतोपि निर्दोषे कथं दोषनिरूपणम् ॥
ननु भुव्यवतारे तु क्रोधादि दृश्यते हरौ । दैत्यमारणतोनन्तयुवतीनां परिग्रहात् ॥
क्रोधोपि देवस्येत्यादिवाक्यं च खलु दृश्यते । इति चेन्न हरौ दोषः प्रतीत्या न हि वस्तुतः॥
विचार्यमाणे क्रोधादि हितं पर्यवसानतः । मुक्तिदानान्निजानन्ददानात्तदधिकारतः ॥
दोषा एव न जीवैस्तु प्रयुक्तास्तं स्पृशन्त्यपि । अभिचारा वैष्णववदतस्तद्दोषवर्जितम् ॥
एवं सतीदृशे नाथे दोषारोपणतः स्वतः । पूर्वं जातोपि चोत्कर्षो नश्येत्तदपमानतः ॥
स्वामिसम्बन्धराहित्याद्भवेत्तु महती क्षतिः । इति चेत्तत्समाधानमग्रिमश्लोकरूपितम् ॥

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

संभावितस्य चाकीर्तिरिति गीतोक्तवाक्यतः । उत्कृष्टस्य पुरा पश्चादपकर्षे क्षतिर्भवेत् ॥
पूर्वं स्वरूपे दृष्टान्तस्तथा हीनो निरूपितः । तादृशस्य तथोत्कर्षे मूलं तु भगवान्मतः ॥
पुष्टिमार्गवृतौ नैव जीवोत्कर्षो नियामकः । भक्तिहंसे तथा चोक्तं प्रभुभिर्विठ्ठलेश्वरैः ॥
पूर्वं जीवगतोत्कर्षोप्यप्रयोजक इत्यपि । मूलतस्त्वपमाने तु न हीनस्य क्षतिर्भवेत् ॥
अपमानजदुःखं तु क्रियते स्वविचारतः । दास्यं स्मर मनः स्वीयं दासानां नापमाननम् ॥
चेदित्यनेन दौर्लभ्यमङ्गीकारे निरूपितम् । जातं यद्राजपत्नीत्वं तन्न याति कथञ्चन ॥
अन्यैर्वा सा न दुर्वाक्यैर्वक्तुं शक्या बलान्वितैः । न वा तदुपभोगोन्यैः पश्चात्कर्तुं हि शक्यते ॥
अपमाने विलम्बस्तु विरहानुभवार्थकः । बहिः संवेदने पश्चाद्दैन्यभावप्रसाधकः ॥
तदनन्तरमन्येपि मातृत्वमतयो ध्रुवम् । मानयन्ति यतस्त्वां हि नापकर्षस्ततो मतः ॥
कदाचिदित्यनेनात्र नित्यता नापमानने । मनःपूर्वकृतित्वेन नित्यताङ्गीकृतौ हरेः ॥
नापमाने यतस्तत्र हरेरिच्छा न तादृशी । शिक्षार्थं दण्डनार्थं वा कुरुते न निजेच्छया ॥
इच्छापूर्वकृतित्वे हि भवेदेव हि नित्यता । दण्डोप्यनुग्रहः प्रोक्तः सर्वत्रैवात एव हि ॥
अपि शब्देन तस्यापि मानसाम्यं निरूपितम् । एवं वाक्यैर्बोधयित्वा दृष्टान्तेन च बोधनम् ॥
क्रियते दृढता यस्मात्कृतबोधस्य सिध्यति ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

अहं समर्पणात्पूर्वमुत्तमः किं स्थितो मनः॥
यतो दोषा निवृत्तास्तु सर्वेषां तत्समर्पणात् । सदेत्यनेन हृदये तदावेशात्कचित्कचित् ॥
जाताप्युत्तमता नैव निरन्तरमभून्मयि । यथा श्रावणशुक्लैकादश्यां कृष्णे पुरःस्थिते ॥
साक्षात्समर्पणे सर्वोत्तमत्वं न तथा पुरा । नन्वास्यरूपाचार्याणां कथनं नैव युज्यते
ईदृशं कृष्णरूपत्वात्सर्वस्योत्तमता यतः । इति चेन्न रसात्मत्वात्तत्स्वरूपं च तत्तथा ॥
यथा भगवतो लीलारसानुभवसिद्धये । मानिनीषु तथारूपं प्रहं तादृग्वचोपि हि ॥
तथावतारे भक्त्याख्यरसानुभवहेतुकम् । रूपं तथा वचश्चापि स्वाचार्यचरणोदितम् ॥
अतो रसात्मके रूपे न कार्यः संशयस्तथा । यतो रसस्वरूपं हि यत्र यादृक् तथैव तत् ॥
किञ्चाधुना चाधमता का वा भाव्या मम त्वया । यतोधमत्वतश्चित्त पश्चात्तापो भवेत्तव॥
ननु सत्यं तथाप्येष कृष्णः सर्वोत्तमः स्वतः । कर्तुं चापि तथाऽकर्तुमन्यथा कर्तुमीश्वरः ॥
अतः कदाचिद्वरणं कुर्याच्चेदन्यथा तदा । का गतिः कुत्र गच्छामि गत्वा वान्यं कमाश्रये ॥
इयं चिन्ता न कर्तव्या—

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्पतो हरिः । स्वाङ्गीकृतिं कृपापूर्णो न कुर्यादन्यथा क्वचित् ॥
केषां सत्या कृतिः केषां वाक् सत्या न विचारितम् । विचारितं हरेः सत्यमतस्तु कथनेन्यथा ॥
कदाचिद्दासदोषेण नान्यथा तद्विचारितम् । अतो वचःश्रुतौ नैवं विधेयं भयमन्यथा ॥
विष्णुः सर्वत्र सत्वेन रक्षकः कथमन्यथा । करिष्यति यतो रक्षा साधारण्या कृतिः प्रभोः ॥
तुशब्देन न भक्तेषु क्वचिदप्यन्यथा कृतिः । करणं वाप्यकरणं सुखार्थोस्तु विवृद्धये ॥
नन्वेवं चेत्स्वतन्त्रत्वं किं दासानां न बाधकम् । स्वतन्त्रा गतचिन्तास्तु कुर्युराज्ञाविलोपनम् ॥
तथासति महान् दोषस्तदर्थमिह चोच्यते । आज्ञैव कार्या दासेन न प्रश्नो न विचारणम् ॥
एवकारेण धर्माणामाज्ञात्वेनैव वै कृतिः । कार्यत्वावश्यकत्वार्थप्रत्ययान्तपदोक्तितः ॥
सेवकस्तामकुर्वन् वै प्रत्यवायी हि जायते । निरन्तरं तत्कृतिस्तु स्वधर्मत्वेन बोधिता ॥
स्वधर्मो यादृशस्तस्याऽकृतौ दोषोपि तादृशः । वाग्रूपवेदधर्मस्याऽकरणे वाङ्निरूपितः
नरकादिः, स्वरूपात्मधर्मस्याकरणे हरेः । स्वामिद्रोहो महान् दोषः स्वरूपेण विरोधतः ॥
आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामिति लौकिकवाक्यतः ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

सेवकस्य हरेः सेवां कुर्वतो मार्गवर्तिनः ॥
धर्मोयमेव नान्योस्ति यदाज्ञाकरणं प्रभोः । तुशब्देनान्यथा धर्मः पुष्टिस्थेषु विलोक्यते,
तदाज्ञालोपमानादि तद्धरेर्धर्मवेशनात् । तथैवात्रापि विज्ञेयं न, धर्मौयमितीरितम् ॥
अत एवार्जुनेनोक्तं करिष्ये वचनं तव । न चायमीदृशो धर्मः सन्दिग्धफलसाधकः ॥
यत आज्ञाभिधं धर्मं हरिः स्वीयं करिष्यति । 'अहं त्वा सर्वपापेभ्य' इत्युक्तं हरिणा यतः ॥
अन्ये सर्वेपि ये धर्मास्ते विभूतिपराः कृताः । फलदानं विभूतिभ्यस्तेषु सर्वत्र निश्चितम् ॥
ईदृग् धर्मपरित्यागं स्वस्मिन्नाहुर्मनः प्रति । पश्चात्तापोप्यतो योग्यः सर्वथेति निरूपितम् ॥
तदेवाहुर्निजाचार्या मद्यमाज्ञात्रयं हरिः * अदात्, तत्र स्थलं पूर्वाज्ञायां च तन्निरूपितम् ॥
यत्र देहपरित्यागः कर्त्तव्य इति सोऽब्रवीत् । तत्र बीजं तु सान्निध्याद्धरेर्भावात्मकस्य हि॥
साक्षात्तद्भावसम्बन्धो विना मार्गोपदेशनम् । ततः स्वरूपप्राकट्यं पुष्टिमार्गस्थितप्रभोः ॥
*ज्ञानं च नाभिलषितं गूढभावस्य वै हरेः । सर्वत्र सर्वजीवानां *तेनैवं प्रभुरुक्तवान् ॥
ततः प्राकृतवत्कृत्या गार्हस्थ्यादौ विमोहनम्। सम्पाद्य स्वीयसान्निध्यं भक्तानामेव कारितम्॥
उपदेशनमारब्धमाचार्यैः पुष्टिमार्गगम् । ततो मधुवने सर्वा गूढलीला प्रकाशिता ॥
उपदेशेन भक्तेभ्योऽनभीष्टं तदपि प्रभोः । लीलाधारत्वतः स्वस्य तद्धारैव प्रकाशनात् ॥
तद्द्वयं न कृतं कृष्णाऽऽज्ञाया रसविशेषतः । श्रीभागवतगूढार्थप्रकटीकरणात्तथा ॥
लीलास्थलदृगासक्तेर्न भयं प्रौढितो रतेः । तुशब्देनाधुना नैव तादृगाज्ञां ददाति हि ॥
स्वास्थ्यवाक्ये न संन्यासे कुरुते भावघातनम् ।'स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं'इत्यतोस्मत्प्रभोर्वचः॥
स्थलं च प्रथमाज्ञायाः स्वसंयोगप्रबोधकम् । गङ्गायाः सागरेणात्र यथा योगस्तथा मया ॥
एकीभावेन सम्बन्ध इति स्वामिप्रलोभनम् । पद्ये द्वितीये यः प्रोक्तोऽपिशब्दस्तेन बोधितम् ॥
एतदाज्ञापनमपि स्वसम्बन्धप्रलोभकम् । पश्चात्पदेनैतदाज्ञा विलम्बेन समुद्गता ॥
स्थलं मधुवनं प्रोक्तं दुष्टसम्बन्धतस्तथा । तत्र नैवंविधं कार्यं कार्यमित्याशयो हरेः ॥
तत्रत्यानाञ्च विप्राणामतः प्रोक्तैव दुष्टता । एतद्द्वयं तु न कृतं तृतीयोऽर्थात्कृतो मतः ॥

---

* अदात्तत्र फलं पूर्वाज्ञायां तत्र निरूपितम् । इति पाठः ।
* एतादृशं प्रभुप्राकट्यात्मकं ज्ञानं सर्वत्र सर्वजीवानां स्यादिति गूढभावस्य हरेर्नाभिलषितम् ।
* एवं देहत्यागरूपम् ।

त्यागो लोकैकविषयो नामदानादिवर्जनात् । सेवाप्रदर्शनाभावात् सहनादुःखदस्य च ॥
नन्वेवं धर्मगमने पश्चात्तापस्तु संभवेत् । इति चेन्न; यतः सेवाकरणात्सेवकोस्म्यहम् ॥

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सेवा तु स्वाम्यभिहितकरणेन भवेत्पुनः । स्वामिनैव यदुक्तं मे श्रीभागवतवर्णनम् ॥
पुष्टिमार्गप्रकटनं तदेव क्रियते मया । तदुत्तरं चेत्स्थास्यामि तदा दोषो भविष्यति ॥
न चाज्ञाप्राप्तसेवायाः करणे धर्मतश्च्युतिः । सेवाकृतेराज्ञयापि स्थितेरन्यविवर्जनात् ॥
तदा केन प्रकारेण पश्चात्तापो भवेन्मम । ननु प्रभूणां लोके तु दृष्टा सेवाकृतावपि
परित्यागकृतिः स्वीयोत्तराज्ञापरिपालने । अत्रापि चेत्तथाभावे पश्चात्तापस्तु सर्वथा
इति चेन्न हरिः कृष्णो द्रष्टव्यो लौकिकेशवत्। स भावाज्ञो हरिर्भाववेत्ता स क्षणिको हरिः
न तथा, स तु दोषाढ्यो हरिर्दोषविवर्जितः। सोऽनित्यस्वीकृतिः कृष्णो नित्याङ्गीकरणो मतः॥
स दुःखरूपः कृष्णस्तु पूर्णानन्दो निरूपितः । सोल्पदः पूर्णपरमानन्दसन्दोहदो हरिः ॥
कदाचनेतिशब्देन सोऽस्थिरः स्थिरता हरेः। अतस्त्यागभयाऽभावादनुतापो निवारितः ॥

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

किञ्च, सर्वं लौकिकं हि वैदिकं च समर्पितम् । अहन्ताममते चापि त्वया तत्र समर्पिते ॥
अतः कर्तव्यताऽभावात् कृतार्थत्वमभूत्तव । किमर्थं कुरुषे दुःखं किं तवास्ति सुखी भव ॥
भ्रमादेवाभवद्दुःखं त्यजाश्विति*ममाशयः । सेवावशादगमने नातोषोऽलौकिकप्रभोः ॥

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

सेवाप्रियस्य करुणाकरस्य मृदुचेतसः । देहाध्यासादगमने त्वसन्तोषो भवेत्प्रभोः ॥
अतो विदधते चित्तसमाधानं निदर्शनात् । देहे न सत्ता स्थाप्या हि यथा दुहितरि स्वतः ॥
जामात्रर्थे पोषणं तु हर्यर्थे तद्वदत्र हि । अयोग्यतायां तच्चिन्ता कर्तव्या रक्षणादिषु ॥
प्रौढा चेत्सकला चिन्ता तस्यैवेति विबुध्यताम् । अतो न देहाध्यासेन देहाप्रेरणं हरौ
उचितं तद्वत्स्नेहात्स न तुष्येद्यतो वरः प्रत्यग्रभोक्ता, नाऽजातरसस्यायोग्यवस्तुनः ॥
अतः स तु कथं तुष्येदपेक्षायामनर्पणात् । तदाशयपरिज्ञानमात्राच्चेदर्प्यते स्वतः ॥
तदा विशेषसन्तोषस्त्वाज्ञायां मध्यमः स्मृतः । आज्ञायामपि चेल्लोभो देहादेस्तोषणं कथम् ॥
यदर्थं सकलापेक्षा तदभावेऽखिलं वृथा ।

---

* 'महाशय' पाठः ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

नतु देहादिलोभस्तु लोकोत्पन्नस्य जायते ॥
स्वानभिप्रेतकथने मानोपि भवति प्रिये । मदोपि प्रियसौभाग्यात्स्वासाधारण्यबोधकः ॥
जायते दोषभावश्च प्रभौ प्रौढिवशात्पुनः । अतः किञ्चित्रमिति चेन्नैवं चित्तोचितं मयि ॥
अहं तदास्यरूपोस्मि भक्त्यात्मा वह्निरूपधृक् । निर्दुष्टः केवलानन्दकरपादादिसङ्गतः ॥
कृष्णाधरसुधासारः परमानन्दरूपवान् । भक्तिदाता समस्तानां स्वीयसान्निध्यमात्रतः ॥
श्रीकृष्णरसभावात्मा व्रजस्त्रीहृदयस्थितः । लीलाशतसमाक्रान्तसर्वाङ्गो विस्मृताखिलः ॥
हृदयस्वामिसहितो ह्याविर्भूतस्तदाज्ञया । एतादृशो ममापि स्याल्लोकवच्चेत्स्थितिर्मनः ॥
ब्रूहि किं स्यादिति पुनः स्वयं हृद्येव चिन्तय । तदास्यस्य स्थितौ चैवं प्रभोरपि तथा स्थितिः
इत्यज्ञानं न तद्युक्तं हरेरानन्दरूपिणः । अवाच्यत्वादेवमुक्तं स्वयमेव विचारय ॥
ननु जातेऽपराधे तु किं विधेयमशक्तितः । अज्ञात्वा वाथवा ज्ञात्वा यत्कृतं नाकृतं हि तत् ॥
अतः कथं सोनुतापो हृदयात्तु निवर्तते । इतिचेन्न हरिः सर्वदुःखहर्ता ह्युपेक्षते ॥
अशक्ये निजभक्तानां स्वयं सर्वत्र साधकः । यतो गजेन्द्रस्याशक्ये स्वयमाविर्बभूव ह ॥
कार्यं च कृतवान् सर्वमतो हरिपदं यतः । एतेन साधनाभावे दैन्यभावोद्भवे पुनः ॥
निःसाधनफलात्मासौ प्रादुर्भवति निश्चितम् । एवकारेण नान्येषां निःसाधनफलात्मता ॥
न वा कृपालुता पूर्णानन्दाभावाद्रसास्थितेः । अस्तीति पदतः स्वाग्रे प्रादुर्भूतो निरूपितः ॥
अतो मोहं स्ववैकल्यं मा प्राप्नुहि मनो मम । एवं स्वान्तःसमाधानं विधाय स्वसदुक्तिभिः ॥

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः समाप्तः ।

सम्पाद्य स्वस्य नैश्चिन्त्यं स्वीयान् प्रति वदन्ति हि । एवं प्रकारकं वाक्यं हितं फलदशासु हि ॥
स्वचित्तं प्रति यत्प्रोक्तं तदाकर्ण्य भजन् हरिम् । स्वदोषेप्यपरित्यागी प्रभुरित्यवबोधतः ॥
परित्यागभयाभावाज्जनो निश्चिन्ततां व्रजेत् । नन्वेवं कथनादेव नैश्चिन्त्यं तु कथं भवेत् ॥
स्वानुभूतेरभावे तु वाङ्मात्रान्न हि सिध्यति । इति चेदुच्यते स्वीयान्समाधातुं स्वदासता ॥
आविर्भूतस्वरूपस्य प्रोक्तानुभवबोधने । अनुभूयैतदखिलं मयात्र विनिरूपितम् ॥
नात्र कार्यो ह्यविश्वासो भवद्भिः सफलाशिभिः । ननु दासत्वकृष्णत्वे विरुद्धे भवतः कथम् ॥
किं वा विधाय कापट्यं तथात्वं स्वस्य कथ्यते । महापुरुषवत्तत्र कृष्णत्वं चौपचारिकम् ॥

अथवा भाववशतः स्वस्वरूपस्य विस्मृतिः । विरुद्धधर्मता वापि ब्रह्मवत्तत्र रूप्यते ॥
यद्वा व्यामोहसिध्यर्थमेवं रूपनिरूपणम् । एवं हि संशये कार्या सद्भिरेवं समाहितिः ॥
यथा रसात्मनो रूपं हरेर्यत्र यथाविधम् । वचः क्रियापि सर्वैवानुरूपा यत्र यादृशी ॥
तत्र तादृग्विधं रूपमुच्यते न प्रदर्शनम् । अन्यथा न रसात्मत्वं स्याल्लोकोद्भूतं रसज्ञवत् ॥
लोकेपि यत्र नाट्यादौ प्रादुर्भवतिचेद्रसः । स्त्रीवेशादिह तत्रैवमुच्यते सैव वर्तते ॥
एवं हि भगवान् कृष्णो रसात्मा यत्र यादृशः । तद्रसानुभवार्थं हि विशिष्टस्तत्र तादृशः ॥
रसात्मत्वात्तदास्यं च मन्तव्यं तादृशं पुनः । अतो दास्यरसार्थाय प्रादुर्भूतं तदात्मना ॥
भक्त्यात्मकं मुखं तत्र रूपमेव हि तादृशम् । वचोपि तादृशं तत्र सत्यमेव न चान्यथा ॥
यथा वचो हरेः स्वीयदैन्यभावनिरूपकम् । मानापनोदसमयेऽस्मत्प्रभोस्तद्रसात्मनः ॥
तथाचार्येषु वाक्यानि नात्र कश्चन संशयः । वल्लभस्येति नामोक्त्या विश्वासस्थानमुच्यते ॥
हरेः स्वस्मिस्तथा नाम्नि नित्या प्रीतिर्निरूपिता । ईदृक्स्वरूपविश्वासे नैश्चिन्त्यं निश्चितं मया ॥
भाग्यभाजां हि विश्वासो भवेच्छ्रीवल्लभप्रभौ । यथा निवेदने चिन्ता नवरत्ने निवारिता ॥
एवमत्र फले चिन्ता स्वकीयानां समुद्धृता । संयोगमानविरहाभिधभावत्रयं स्वतः ॥
अनुभूतं तु संयोगः सेवया त्यागतोऽपरः । आज्ञाकरणतो मानभावोत्र सफलीकृतः ॥
स्वरूपस्फूर्तितः पश्चात्पश्चात्तापो निवारितः । इति श्रीवल्लभाचार्यपदाम्बुरुहरेणुषु—
सक्तचित्तस्य विवृतिर्हरिदासस्य पूर्णताम् । अगमत्तेन ते स्वीयं दृढं कुर्वन्तु मां सदा ॥
अवद्यमनवद्यं वा विचारयतु मे प्रभुः । यत्प्रसादिदं सर्वं पूर्णतां याति सर्वथा ॥
सन्तोपि कृपया युक्तं मदीयं मूर्खजल्पितम् । श्रीमदाचार्यसम्बन्धात्पश्यन्तु परमादृताः १५१

इति श्रीहरिदासोक्तान्तःकरणप्रबोधविवृतिः
समाप्ता ।



श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः।

श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराजकृतविवरणम्।

नत्वा स्वाचार्यपादाब्जं सर्वाभीष्टप्रदायकम्।
तदुक्तबोधवाक्यानि व्याख्यास्ये बोधसिद्धये ॥ १ ॥

*(अथ) श्रीमदाचार्यचरणाः (स्वीयान् प्रति नवरत्ने 'चिन्ता कापि न कार्या' इत्याज्ञाप्य तस्या अन्तःकरणधर्मत्वादन्तःकरणस्य च स्वभावचञ्चलत्वाद्दुःध्यानादिसंभवे पूर्वोक्ताज्ञाभङ्गसम्भवान्निवेदनं कृतमप्यकृतं स्यादिति तदभावाय प्रमेयबलेन यथा भगवान् भक्तान्तःकरणसम्बन्धी सन् फलप्रकरणे मदमाननिवारणं कृतवाँस्तथात्र) स्वीयान्तःकरणबोधार्थं (तदभिमुखीकृत्य) सप्रौढिस्वस्वरूपज्ञापनपूर्वकमन्तःकरणप्रबोधं निरूपयन्त्येकादशश्लोकैरेकादशेन्द्रियबोधकत्वेन। अन्तःकरणेति।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

हे अन्तःकरण? मदीयानामिति शेषः (समाप्तौ 'भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेदि'त्युपसंहाराद्बोध्यः) मद्वाक्यं सावधानतया सावधानीभूय शृणु शृणुष्वेत्यर्थः। स्ववाक्यत्वेनाप्ततोक्ता। श्रवणे सावधानत्वोक्तिः श्रवणानन्तरं तथाकरणार्थम्। अन्तःकरणस्यैकवचनं स्वमार्गे सर्वेषामेकरूपत्वज्ञापनाय जात्यभिप्रायेण। (अत्र सर्वे प्राञ्चः स्वान्तःकरणमेव बोधनीयत्वेनाङ्गीचक्रुः। तदपि श्रीवल्लभाष्टके रूपद्वयेनावतारबोधनात्सर्वोत्तमे 'स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकारे'त्युक्तेश्च, मुखाग्न्यवताराभिप्रायेण सङ्गतमेव,) एवं स्वीयानामन्तःकरणं सम्मुखीकृत्य बोधवाक्यमेवाहुः। कृष्णात्परमिति। कृष्णात् 'कृषिर्भूवाचक' इत्यस्य भावानन्दात्मकतया विवरणेन व्रजवरवल्लभानां भावात्मकात् (परमुत्कृष्टं दैवं देवानां क्रीडाकृतां समूहो वा, 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यमि'तिकोशात्तासां भाग्यरूपं वा। नास्ति इतरं) नास्तीत्यर्थः। ननु किं स्तुतिरेवेयमित्याशङ्कायामाहुः, वस्तुत इति। तत्रोत्कृष्ट(ताया वास्तव)त्वार्थं विशेषणमाहुः—दोषवर्जितमिति। दोषैर्वर्जितं रहितमित्यर्थः। (तथा चेदं तद्वास्तवत्वे बीजम्। किञ्च;) कृष्णपदात् सदानन्द

* ( ) चिह्नान्तर्गतं श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणैः संशोध्य सम्पूरितं ज्ञेयम्।

कस्तेन यथा गोपिकार्थं कोटिकन्दर्पलावण्यं प्रकटीकृत्य प्रकटस्तथा सर्वत्रापि तदर्थं कटो भविष्यतीति ज्ञापितम्। तेनान्यत्र क्रीडारूपत्वं नास्त्येवेति जीवानामन्यत्र नायकभावेन भजनं दोषरूपमेवेति भावो दोषवर्जितमित्यनेन ज्ञापितः। अत एव 'वीरयोषिता'मित्यत्र 'व्रजनितम्बिनी'वाक्यव्याख्याने श्रीमदाचार्यै'र्न हि कृष्णादन्य एवं सम्बोधनमर्हती'ति निरूपितम्। आद्य श्रीमहिषीभिरपि 'त्वक्समश्रुरोमे'तिपद्येनान्यत्र कान्तभावस्य दोषरूपता निरूपिता। (तथा च स्वक्रीडानुरोधेन स्वीयभाग्यरूपतया च स्वयमेवास्माकं करिष्यतीति निश्चित्य चिन्ता न कार्येत्यर्थः।)

(ननु सत्यमेवं तथापि भगवतो ब्रह्मश्रुत्यादिदुरापचरणरेणुत्वे स्वतुच्छत्वे च स्फुरिते सोत्पद्यतैवेति कथं तन्निवृत्तिरित्याकाङ्क्षायां तन्निवृत्त्यर्थमेवं) दोषरहितस्वरूपं विचार्य तत्र मानापेक्षादिदोषराहित्येनाज्ञैव कार्येति सार्द्धैस्त्रिभिर्वदन्तः प्रथमं (तुच्छत्वस्फूर्तेरकिञ्चित्करत्वाय निदर्शनमाहुः,)चाण्डाली चेदिति।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता।
कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चेत्कदाचिद्राज्ञा मानिता सती राजपत्नी च जाता। चकारेण स्वस्यापि तथाभिमानोत्पत्तिर्जातेति ज्ञाप्यते। (तदा) तादृश्याः कदाचिदपमाने वा मूलतो राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत्? न कापीत्यर्थः। माने कारणं राजपत्नीत्वं न तु चाण्डालीत्वम्। राजपत्नीत्वेपि कारणं राजसम्माननं न तु स्वधर्मः कोपि। तस्मात्तत्कृतापमानस्यापि न राजपत्नीत्वान्यथाकारित्वशङ्का। यथा राजपत्नीत्वसम्पत्त्यनन्तरमपमानेपि न तद्धानिस्तथात्र समर्पणानन्तरं (परीक्षार्थं) द्वितीयरसपूर्त्यर्थं वा भगवतापमानेपि कृते स्वस्य पुनरन्यभावो न भविष्यति। समर्पणेन यो भावो जातः स तु जात एव, (पुनर्यदा परीक्षादिपूर्त्तिः) संयोगरसदानेच्छा (वा) भविष्यति तदा पुनस्तथैव मानप्राप्तिरपि भविष्यतीति विचार्यम्। (तथा द्वितीयव्याख्यानरीत्या राजपत्नीत्वमिव समर्पणानन्तरं स्वस्य सेवायोग्यत्वमेव विचार्यं, न तु चाण्डालीत्वमिव स्वतुच्छत्वमपि विचार्यम्। भगवता पुष्टिमार्गस्य स्वार्थं प्रकटितत्वेन स्वोरीचिकीर्षितजीवदोषानादरणपुरःसरं तदङ्गीकरणे अन्तरा च जीवदोषाद्दासक्तौ भगवानेवेति न्यायेन विलम्बेपि पूर्वात्परबलीयस्त्वन्यायेन नाङ्गीकारतिरस्कारो, नापि दोषप्राबल्यमिति न तुच्छत्वाऽवसर इत्याश)येनाहुः। समर्पणादहमिति।

१ (किञ्च यथा राजसम्परणनन्तरं पूर्वस्वरूपं न विचार्यं, तद्विचारे सति स्वहीनत्वे स्फुरिते तस्य रसहानिः स्यात्तथा समर्पणे कृतेपि स्वस्वरूपविचारेण प्रभुः कृपां करिष्यति न वेति हीनत्वं न विचार्यम्।) इति श्रीपुरुषोत्तमचरणैरनादृताः पङ्क्तयः स्वहस्ताक्षरबोधितग्रन्थे सन्ति।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणात् पूर्वं किमहं सदा उत्तमः स्थितः ? अपि तु न । तथा च समर्पणात् पूर्वं येन भगवदुत्तमानापेक्षा स्यात्तादृग्भावयुक्तस्तु न स्थितः । तदनन्तरमेव तथाजातस्तेनापमानेपि (मम) काधमता भाव्या (भाविनी, विभावनीया वा) । यतः समर्पणानन्तरं पश्चात्तापो भवेत्? । ·········कदाचित्कर इत्यनेनाश्वासनार्थं स्वसहजधर्म आगन्तुकधर्मश्च स्मारितः । अतः परमर्द्धेन नित्याङ्गीकाररूपं भगवद्धर्मं तदर्थं स्मारयन्तस्तेन, प्रत्युतमानकरणात्मकस्वरूपसम्पत्तिर्भविष्यति, पुनरन्यथा सा न भविष्यत्येव, भगवदङ्गीकारस्य नित्यत्वादित्याहुः । सत्यसङ्कल्पत इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्प्यतो विष्णुर्व्यापकः, अन्यथा तु न करिष्यति । यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते,' 'द्विः स्थापयति नाश्रिता(नि'त्यादिः सङ्कल्पः सत्यो विषयाव्यभिचारी, तथा) 'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न (भूयोर्हति शोचितु')मित्यादि(रपि)भगवतः सत्य एव सङ्कल्पस्तेन पुनस्तं (प्रपन्नमन्य)था न करिष्यति । (शोकयुक्तं न करिष्यतीत्यर्थः । किञ्च;) विष्णुर्व्यापकस्तेन विप्रयोगसमयेपि रसदानं करिष्यति, 'मया परोक्षं भजते'तिन्यायेनेति ज्ञाप्यते । एवं (स्वस्वरूपधर्मं भगवद्धर्मञ्च स्मारयित्वा स्वीयसेवकस्य रक्षणाय यतः) प्रभुरन्यथा न करिष्यत्यतो भावात्मकं समर्पणमनुसन्धायापमानजं क्लेशं परित्यज्य, भगवान् यथैवेच्छापूर्वकमाज्ञापयति तथैव कार्यमित्याहुः । आज्ञैवेति । सततं निरन्तरमाज्ञैव कार्या । अन्यथा तदकरणे स्वामिनः प्रभोर्द्रोहो भवेत् । भगवता स्वकार्यकरणार्थं (स्वदासीय)देहकरणात्तदाज्ञाया अकरणे बाधकमेव स्यादिति भावः । ('भगवद्दत्तं देहं भगवत्कार्यार्थं जीवो धृत्वा तिष्ठती'ति पुरञ्जनोपाख्यानाज्ज्ञेयम् ।)
सिद्धमाहुः । सेवकस्येति ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सेवकस्यायमेव धर्मो यदाज्ञाकरणम् । तु शब्देनान्यधर्मनिवृत्तिः सूच्यते (एवं पादत्रयेण स्वाज्ञापरिपालनरूपो दासधर्मो भगवत्तोषहेतुरिति, तुना पक्षान्तरनिरासपूर्वकं स मुख्यतयोपसङ्गृह्यते ।) एवं सेवकधर्ममुक्त्वा प्रभुधर्मस्वरूपमाहुः । स्वामी प्रभुः स्वस्य इच्छातः करिष्यतीति स्वमनोभिलषितकरणं प्रभुधर्म एव । सेवकधर्मस्तु तदाज्ञाकरणमेवेति तुशब्देन ज्ञाप्यते । (संयोगपृथक्त्वेनात्रापि तु शब्दस्यानुषङ्गः । यद्वा, स्वामी भगवान् स्वस्यात्मीयस्य दासस्य करिष्यति, स्वाज्ञापालनाग्रहं विलोक्य दयया तं धर्मं निर्वाहयिष्यतीत्यर्थः । अतस्तदर्थमपि न चिन्तावसर इति भावः । एवं सार्धैस्त्रिभिराज्ञैव कार्येति सम्यगुपदिश्य,) एवं भगवदाज्ञाप्तकरणसंतुष्टप्रभुसम्पादितेन स्वस्योत्तमत्वेन कदाचिदाज्ञप्तान्यथाकरणेपि स्वस्य तादृक्सेवकत्वमेव भाव्यं, न त्वन्यथा विचारणीयं, पश्चात्तापो वा कर्तव्यो, यतः प्रभुरेव स्वेच्छातस्तथाकारयतीत्याशयेन स्वदृष्टान्तमाहुः । आज्ञेति ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

या आज्ञा पूर्वं गङ्गासागरसङ्गमे गङ्गासागरसमीपे जाता, पश्चाद्या मधुवनेपि जाता, तदाज्ञाद्वयं मया न कृतम् । तु शब्दस्त्वाज्ञाद्वयाकरणस्य भगवदिच्छाविषयरूपत्वज्ञापनार्थः । ननु, आज्ञाद्वयं किं विषयकमित्यपेक्षायामाहुः । देहदेशपरित्याग इति । गङ्गासागरसङ्गमेऽन्यत्र गमनकृतस्वनिकटस्थित्यभावजकोपेन देहपरित्यागविषयिणी । सापि पूर्वोक्तप्रकारेच्छाजनितक्षणवियोगासहिष्णुतया जाता । (एवं मधुवने मथुरायां देशत्यागविषयिणी ।) स्वाचार्यैस्तु स्वीयशिक्षार्थकविप्रयोगतापानुभवार्थं दूर एव स्थितिः क्रियते । भगवता स्वार्थं तथाज्ञाप्तम् । श्रीमदाचार्यैः स्वसौभाग्यज्ञापनाय तदाज्ञाद्वयमपि न कृतम् । तृतीया लोकगोचरा लोकपरित्यागविषयिणी जाता, सा कृतेति भावः । (············पाठे, तृतीय आज्ञाविषयः, स चोभयसमुदायरूपः सन्यास इति व्याख्येयम् । तथा च द्वयं न कृतमप्येवं कृतं, तदपि मया तदवतारेण । अतो मन्निदर्शनं पुरस्कृत्य अन्येन तथा न कार्यम्, किन्तु यथा प्रभ्वाज्ञा तथैव कार्यमितिभावः । यद्वा, न कृतमित्यत्र काकुः । 'दिह' उपचये, 'दिश' अतिसर्जने, देह उपचयः, देशो दानम् । अयमर्थः, भगवता श्रीभागवतार्थप्रकटनाय पूर्वमाज्ञप्तं, तत्सूक्ष्मटीकाकरणेन कृतम् । ततः सुबोधिन्यामुपचयो ग्रन्थबाहुल्यात्मा आरब्धस्तदा देहपरित्याग आज्ञप्तः । ततस्तद्विहाय निरोध एव विवृतः । ततो मुक्तौ विव्रीयमाणायां देशपरित्याग आज्ञाप्तः । तदा विमोचने स्वाश्रयप्रापणे च विवृते फलं दत्तमेव स्यादितितदभावाय तादृशमाज्ञाद्वयं मयापि स्वाग्रहत्यागेन कृतञ्चेदन्येन तु सर्वथा कर्तव्यमेवेति भावः ।)

(एवमाज्ञाया अकरणकरणे उक्त्वा) स्वस्याज्ञाद्वयाकरणजपश्चात्तापाभावायमाहुः । पश्चात्ताप इति ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

तत्राज्ञाद्वयाकरणे पश्चात्तापो मया कथं कर्तव्यः ? । यतोऽहं सेवकोस्मि । तदपि स्वस्य सेवकत्वमौढ्यैव कृतम् । न चान्यथा, न केवलं स्वप्रौढयेति । तथा च ममेदं (शोभते नत्वन्यस्येतिभावः । यद्वा, आज्ञाद्वयाकरणान्ममापि पश्चात्तापश्चेदन्यस्य त्वत्यन्त एव स्यादतस्तयान्येन न कार्यमितिभावः) । ननु सेवकत्वे सति स्वप्रौढ्या आज्ञाया अकरणे भगवानप्रसन्नो भवेदि(ति कथं भवतां शोभाकरं, यदि शोभाकरं कथमन्येन न कार्यमि)त्याशङ्क्य भगवतोऽलौकिकत्वेन तदभावमाहुः । लौकिकप्रभुवदिति । लौकिकप्रभुवत् कृष्णः सदानन्दः फलरूपः कथञ्चन केनापि प्रकारेण न द्रष्टव्यः । तथा च, यथा लौकिकप्रभूणां स्वोक्ताकरणे क्रोधो भवति भगवतस्तथा न भवति । यतस्तद्रसानुभवार्थं प्रभुरेव तथा प्रेरयति । अत एव भगवता पार्थं प्रत्युक्तं 'कर्तुं नेच्छसी'-त्यारभ्य 'मायये'त्यन्तम् । लौकिकानामतथाभावात् क्रोधो भवति । (अतो भगवदप्रसन्नताया अभावादस्माकं शोभाकरम् । अन्यस्य तु तादृग्योग्यताया अभावेन भगवदिच्छाज्ञानाभावादनुचितमेवेत्यर्थः) ।

(एवमाज्ञाकरणतदकरणव्यवस्थामुक्त्वा तेन यत् सिद्धं तद् वदिष्यन्तो,) भगवति सर्वसमर्पणं जीवधर्मः, पश्चात्तु प्रभुः स्वेच्छया यत्करिष्यति तत्करोतु, त्वयापि तथैव स्वधर्मः कृतोस्तीति नैश्चिन्त्येन स्थीयतामित्याहुः । सर्वमिति ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।
प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

भक्त्या स्नेहेन सर्वं समर्पितमतः कृतार्थोसि सुखी भव सुखेनैव स्थीयताम् । परिणामे सुखमेवेति सुखी भवेत्युक्तम् । सर्वपदेन लौकिकं रसाधिकरणदेहसम्बन्धिभावरूपमलौकिकञ्चेति ज्ञापितम् । समर्पणे कृते देहेपि सम्बन्धस्य जातत्वाद्देहेनैव सेवा कर्त्तव्येति लौकिकरसात्मकनिदर्शनपूर्वक(तत्कर्तव्यत्वावश्यकत्वमाहुः) । प्रौढापीति । प्रौढापि रसयोग्यापि दुहिता स्वस्य स्नेहात्तस्य वरे यद्वन्न प्रेष्यते तथा देहे न कर्तव्यम् । स्वस्य देहस्नेहेन भगवत्सेवायां देहस्याविनियोगो न कर्त्तव्यः । किन्तु देहेन लौकिकेन भावात्मकेन च भगवद्रसयोग्यसेवैव कर्त्तव्या । तदकरणे वरः प्रभुरन्यथा न तुष्यति । यथा स वरः स्वस्त्रीं विना न तुष्यति तथा प्रभुरपि न तुष्यति । अत्रापि

समर्पणाऽनन्तरं मुख्यो भावः स एवोच्यते । एतज् ज्ञापनार्थमेव पूर्वं निदर्शने राजपत्नीत्वमुक्तम् । द्वितीयेनापि तथैवोक्तम् ।

(एवं देहस्नेहत्यागपूर्वकं देहेन सेवैव कारणीयेति निर्द्धार्य पूर्वं भगवता परीक्षार्थं कृते विलम्बे मम कथं गतिर्भवित्रीति या चिन्ता कृता, सा ते गुणायैव जाता, न तु दोषाय । न ह्येवानङ्गीकृतौ चिन्ता भवति, किन्त्वङ्गीकृतावेवेत्याश्वासनाय दृष्टान्तमुखेन परिचायकान्तरं वदन्त) एतत्सेवाद्यभावे सर्वं व्यर्थमेवेत्याहुः । लोकवदिति ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

चेत्, समर्पणाभावे मे स्थितिर्लोकवत् सर्वसाधारण्येन स्यात्तदा किं स्यात्, फलमितिशेषः । इति विचारय । किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । (तथा च, तथा स्थित्यभाव एव गुणपरिचायक इति भावः) । नन्वेतद्भावस्य सर्वफलरूपत्वमस्तीति सत्यम्, तस्य परं भावस्याशक्यत्वात्तत्प्राप्तिः कथं स्यादि(तिचिन्ता तु भवतीतिचेद्विभेषि तदा तादृशभीते भगवानपि दयालुरेवे)त्याहुः । अशक्य इति । अशक्ये सति हरिरकारणसर्वदुःखहर्ताऽस्त्येव, शरणमिति शेषः । अतस्तदभावे सर्वं व्यर्थमिति लौकिकेन विचारेण कथञ्चन तत्प्राप्त्यर्थं मोहं मा गाः, मा प्राप्नुहि ।

एवं प्रबोधं निरूप्या(तः परं शङ्कापिशाच्यनुदयाद्)पसंहरन्ति । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

इतीति समाप्तौ प्रकारे वा । श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य वल्लभस्य रसरूपत्वेन प्रियस्य चित्तं (स्मृतिजनकमन्तःकरणं) प्रति हितं हितकरं वचोस्तीत्यर्थः । यद्वचः आकर्ण्य, आसमन्तात्तात्पर्यपूर्वकं श्रुत्वा भक्तो भूत्वा, निश्चिन्ततां निश्चिन्तस्य भावमलौकिकत्वं व्रजेत् ।

चित्तप्रबोधवाक्यानि स्वाचार्योक्तानि सर्वदा ।
तिष्ठन्तु हृदये येन प्रसीदति हरिः स्वयम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणरेणुधन(श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराज)-
कृतम् अन्तःकरणप्रबोधविवरणम्
सम्पूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीदशदिगन्तजैत्रश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतं विवरणम् ।

जन्तुस्वभावदोषोत्थमैन्तुचिन्ताकुलान् स्वकान् ।
अवन्तः श्रीमदाचार्याः सन्तु मत्स्वान्तगोचराः ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा उपदिष्टसेवाया निर्दोषत्वाय सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धेन सेवाकर्तॄणां २ पूर्वेषां देहजीवयोः दोषाणामकिञ्चित्करत्वमग्रे दोषासंसर्गोपायं च भगवदुक्तं निरूप्य, सेवाया आधिदैविकीत्वाय नवरत्ने चिन्तानिवृत्त्युपायकथनमुखेनोद्वेगाख्यप्रतिबन्धकनिवृत्तिप्रकारञ्च निरूप्य तथा सेवाकरणे भगवत्प्राकट्यस्यानुभावप्रदर्शनस्य चावश्यंभावात्तस्मिन् सत्यपि यदा प्रारब्धादिवशात्पूर्वदोषोपोद्बलनं तदा पात्रस्य स्वल्पत्वान्महत्याः कृपायास्तस्मिन्न माने तस्य स्वोत्कर्षस्फूर्तौ भगवदाज्ञाभङ्गादावपराधे जाते भगवतोऽप्रसन्नता भवेत्तथापि भगवद्धर्मरूपायाः सेवाया नित्यं क्रियमाणत्वात् 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि,' इत्येकादशे भगवद्वाक्यात् सेवाया नाशाभावेनापराधजनितपश्चात्तापोत्पत्तौ चिन्तासम्भवे क्रियमाणकरिष्यमाणसेवयोरनाधिदैविकीत्वं स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमस्मिन् ग्रन्थे विचारात्मकं साधनमुपदेष्टुं तत्र विश्वासाय स्वाख्यायिकां मध्ये वदिष्यन्तो 'मनोवशेऽन्ये ह्यभवंस्म देवा मनस्तु नान्यस्य वशं समेति, भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेव' इति भिक्षुगीतावाक्यान्मनस एव दुष्टवृत्त्युत्पादकतया तस्यैव साधनीयत्वं निश्चित्य स्ववाक्यश्रवणार्थं स्वीयानामन्तःकरणमेवाभिमुखीकुर्वन्ति । अन्तःकरणेत्यादि ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यप्यन्तःकरणपदं स्वपरान्तःकरणसाधारणं तथाप्युपसंहारे 'भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेदि'तिफलकथनेन ग्रन्थकरणस्य तादर्थ्ये निश्चायिते परान्तःकरणबोधन एव तात्पर्यावगत्या स्वीयानां भक्तानामेव यदन्तःकरणं तद्ग्रहणस्यैवौचित्यात्तदेव ग्राह्यम् । श्रीगो-

---

१ (मन्तुः—अपराधः) २ 'पूर्वेषां देहजीवदोषयोः' इति स्वहस्ताक्षरपाठः । 'पूर्वेषां देहजीवयोर्दोषाणाम्' इत्यन्यप्रतिफलकेषु पाठः ।

कुलनाथास्तु स्वसौभाग्यप्रदर्शनार्थं स्वीयानां भक्तिमार्गप्रदर्शनार्थञ्च श्रीमदाचार्यचरणैः स्वान्तःकरणमेव बोध्यत इत्याहुः । तथैवान्येपि सर्वे । श्रीरघुनाथास्तु स्वान्तःकरणव्यपदेशेनान्येषामेवान्तःकरणं बोध्यत इत्याहुः । ममत्विदमेव रोचते । सौभाग्यप्रदर्शनस्य सुबोधिन्यारम्भस्थेन 'अर्थं तस्य विवेचितु'मिति श्लोकेनैव कृतत्वात्ततोधिकदर्शनस्य प्रकृतानुपयोगात् । भक्तिमार्गप्रचारार्थमाविर्भूतत्वेन भक्तान्तःकरणस्यैव साधनीयत्वादिति । तथाचायमर्थः । हे अन्तःकरण ? इन्द्रियान्तरदुर्जय ? त्वं मद्वाक्यं 'योन्तर्बहिस्तनुभृतामि'त्येकादशीयवाक्यादा'चार्यचैत्यवपुषा' हुताशनरूपेण स्वगतिं व्यञ्जतो वस्तुतः कृष्णत्वेन चाप्ततमस्य मम वाक्यं वक्ष्यमाणं त्वद्धितकरं ग्रन्थरूपं सावधानतया शृण्वाकर्णयेति । एवमभिमुखीकृत्य ब्रह्मसम्बन्धकरणपूर्वकसेवया स्वस्य व्रजभक्तमार्गीयत्वेन भगवदनुभावदर्शित्वादिना च स्वस्मिन्नुत्कर्षस्फूर्त्या भगवदाज्ञादौ व्रजस्थदृष्टान्तेन प्रमाद्यन्तं प्रति तदभावाय तेभ्योपि भगवत उत्कर्षं पूर्वं भावयितुमाहुः । कृष्णादित्यादि । वस्तुतः श्रुत्यादिरूपतया निर्गुणसेवया च लोकवेदोक्तदोषवर्जितं दैवं प्रासरासक्रीडानां देवीनां कदम्बकं कृष्णात्परं भिन्नं न । उत्कृष्टं वा न । 'तस्मान्न भिन्ना एतास्तु' इति तापनीयश्रुतेः, उत्कर्षस्य निरवधिसदानन्दरूपे भगवत्येव विश्रान्तेश्च । अतस्तदीयतया तद्दृष्टान्तेन स्वोत्कर्षं विभाव्य प्रौढ्या भगवदनभिप्रेतं न कार्यम् । तासामप्यागन्तुकदोषोत्पत्तौ ताः प्रत्यपि पञ्चाध्याय्यां 'प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत'ेति वाक्येन भगवत्तिरोधानस्योक्तत्वादिति । अत्र भावनार्थकक्रियापदाभावाद्यद्यपि वाक्यस्य साकाङ्क्षत्वं तथाप्यग्रे उपान्त्ये विचारयेति क्रियाया वक्ष्यमाणत्वादेतेष्वान्तरवाक्येष्वपि दूरतरापि सैव योज्या, न तु क्रियान्तरमध्याहार्यम् । 'दूरान्वयापेक्षयाऽध्याहारस्य गुरुत्वात्' । तथा चेति विचारयेत्यर्थः । एवमग्रे यथायोग्यं बोध्यम् ॥ १ ॥

एवं प्रौढिहेतुं निवार्यैतस्य जीवस्य पुनस्तथात्वाभावाय दैन्यसिद्ध्यर्थं स्वभावतो निकर्षं बोधयितुं दृष्टान्तमाहुः । चाण्डालीत्यादि ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

प्रारब्धवशादतिदुष्टकुलोत्पन्नापि, केनचिद्गुणेन कथञ्चिद्राजपत्नी, राजा पतिर्यस्यास्तादृशी, राज्ञः पत्नीव पत्नी, पतनात् पत्नी, राज्ञो भोग्या सती राज्ञा मानिता च जाता । तस्याः कदाचित् कालविशेषे अपमाने; अर्थाद्राज्ञा कृते वाशब्दादनपमानेपि मूलतो अपमानहेतुभूताच्चाण्डालीत्वादनपमानहेतुभूताद्राजपत्नीत्वाच्च का क्षतिः का हानिर्भवेत् ? न कापीति विचारयेत्यर्थः । एतस्य वाक्यस्याऽऽचार्यविषयत्वं यैरङ्गीकृतं; तत्पक्षे तु

*'मृगयुरिव कपीन्द्र'मित्यादौ क्लेशवशाद्यथा भक्तैर्भगवति दोष आरोपितस्तथाऽऽचार्यैः स्वस्मिन्निति बोध्यम् ॥ २ ॥

एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिके तत्साम्यं वदन्तस्तादृग्विचारफलमाहुः । **समर्पणा-दित्यादि ।**

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

सम्मपर्णाद् भजनार्थकसंस्काररूपात् स्वसर्वसहितात्मनिवेदनाद्राजपरिग्रहस्थानीयात् पूर्वमहं प्राकृतः, चाण्डालीवत्सहजागन्तुकदोषदुष्टः, किं सदा सर्वकालमभिव्याप्य; उत्तम उत्कृष्टः स्थितः ? । किं शब्दः काकुं स्फोरयति । अपि तु न स्थितः । किन्तु; समर्पणादेवोत्कृष्टो राजपत्नीत्वाच्चाण्डालीवदुत्कर्षवान् जातः । अतः स्वपूर्वस्थितिविचारे राजकृतापमानतुल्यभगवदप्रसन्नतायां जातायां मम चाण्डालीवद्दुष्टस्याधमता निकृष्टता का भाव्या ! । कतमा भवित्री ! । यतो यया कृत्वा; पश्चात्तापस्तज्जनितखेदविशेषो मे भवेत् ! । नहि प्राकृतरूपा; तस्याः सहजत्वात् । नाप्यभगवदीयरूपा; भगवता अत्यक्तत्वात् । अङ्गीकारात्मकस्यापि भगवद्धर्मस्य नित्यत्वात्; संसारावेशरूपस्य भगवत्त्यागकार्यस्याभावेनात्यागनिश्चयाच्च; तेनैवाग्रिमात्यागानुमितेश्च । अतो जातायामप्यप्रसन्नतायां पूर्वदशात उत्तमैव दशास्ति; नत्वधमेति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं विचारय । तथा चैवं विचारे भगवत्प्रसादसाधनं दैन्यमप्युद्बुद्धं भविष्यतीत्यप्रसन्नतापि निवर्त्स्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं जीवधर्मपुरस्कारेण विचारमुपदिश्य भगवतोऽप्रतिहतेच्छत्वानुसन्धानाय भगवद्धर्मपुरस्कारेण तमुपदिशन्ति । सत्येत्यादि ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

विष्णुर्व्यापकः, अन्तर्यामितया सर्वान्तः प्रविष्टश्च यो भगवान् सत्यसङ्कल्पतः सत्यो विषयाव्यभिचारी यः सङ्कल्प आलोचनमिदमेवं करिष्यामीत्याकारकं तस्मादन्यथा प्रकारान्तरेण न करिष्यति । तुः शङ्कानिरासे । भगवान्निवेदितात्मनाम् आत्मेच्छस्मदभिप्रेतमेव करिष्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतः स तेषामीश्वरो नियामकोपि; अतस्तेषां विकृतेच्छायां तदनुरोधं न करिष्यति, किन्त्वमोघसङ्कल्पत्वात्स्वालोचितमेव करिष्यति, तद्धितार्थम् । अयं तुशब्दोक्तः शङ्कानिरास उत्तरवाक्ये हेतुत्वेन प्रविशति । अत एवं

* (भ्रमरगीते)

शङ्कानिरासाद्धेतोः सततं प्रमादराहित्येन निरन्तरं; **आज्ञैव कार्या । अन्यथा** प्रमादेनाकरणे **स्वामिद्रोहो** महानपराधो भवेत् । अत्रापि 'इति विचारये'ति पदं सम्बध्यते॥४॥

सेवकत्वपुरस्कारेण पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । सेवकस्येत्यर्द्धेन ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

तु पुनरयं वक्ष्यमाणः सेवकस्य धर्मस्तं व्यक्तीकुर्वन्ति । **स्वामी स्वस्य करिष्यतीति ।** स्वामी भर्ता स्वस्यात्मीयस्य मम करिष्यति, मदर्थं यद्यदालोचितं तत् करिष्यति । अत्रापि तथा सम्बन्धः ।

सेवकत्वविचारस्यावश्यकत्वाय तेनोपदेशे विश्वासार्थं स्वाख्यायिकामुपदिशन्ति द्वाभ्याम् ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

आज्ञेत्यादि । तुरवधारणे । **पूर्व**मेव **गङ्गासागरसङ्गम**प्रदेशे समीपे वा **या आज्ञा जाता पश्चा**त्तदुत्तरकाले **मधुवने** मथुरायामपि **या**ज्ञा जाता, **तद्द्वयं मया** भगवता स्वात्मानुभावप्रकटनार्थं श्रीभागवतगूढार्थप्रकटनार्थं चाज्ञप्तेन न कृतम् । तयोर्विषयः क इत्याकाङ्क्षायां तयोर्विषयमाहुः । **देहदेशपरित्यागः ।** द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य परित्यागशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः । तथा च पूर्वा देहत्यागविषयिणी, द्वितीया देशत्यागविषयिणीति सिद्ध्यति । तदकरणे बीजन्तु नाभिमानो न वा शास्त्रविरोधः । किन्तु; श्रीभागवतार्थप्रकटनार्थाज्ञाकार्यसम्पत्तिरेव । नहि देहे त्यक्ते साज्ञा सिद्ध्यति; वाग्व्यापारस्य तद्धेतुकत्वेन तदभावे तस्याप्यभावात् । प्रकारान्तरेणोक्तौ च कलिग्रस्तानां विश्वासाभावात् । नापि भगवद्देशे त्यक्ते देशान्तरस्यानीदृशत्वेनैतद्विचारप्रतिबन्धकत्वात् । तदेतदवधार्य आचार्यैराज्ञाद्वयं न कृतम् । भगवतस्त्वयमाशयः । देह उपचयः ; देशो दानम् ; 'दिह उपचये,' 'दिश अतिसर्जने' इति धातुनिष्पन्नत्वाद्यौगिकावेतौ शब्दावाज्ञायामुक्तौ । तथा च, उपचयो बाहुल्यं दानञ्च परित्यक्तव्यम् । न च पूर्वाज्ञासम्पूर्तिदोषः । यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु; अधिकं न कार्यम् । रहस्यप्रकाशस्यानभिप्रेतत्वात् । अधिककरणेनानधिकारिणामपि तज्ज्ञानसम्भवेन कृतार्थताप्रसक्त्याधिकार्यनधिकारिविभागभङ्गाद्यापत्तेः । इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधानस्कन्धक्रमव्याख्यात्याजनदशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरसामयिकमाधवभट्टकाश्मीरिशरीरशराहतिप्रभृतिभिः कार्यै-

रनुमीयते । सोयमाचार्यैर्नावधारितः । न वाचार्याणां भगवदाज्ञार्थानवधारणकथनमयुक्तमिति शङ्क्यम् ; भक्तानां पञ्चाध्यायीस्थस्कन्धारोहणवाक्यार्थाज्ञानवत् सम्भवात् । तदा तृतीयाज्ञा जाता । तद्विषयस्तृतीयपरित्यागः स लोकगोचरः । 'लोकस्तु भुवने जन' इति कोशाज्जनविषयः । स च संन्यासेन भव'त्येकचार्यनिकेतः स्यादि'त्यादिवाक्यैः संन्यासे तथात्वात् । तत्र तादृश्यामाज्ञायां जातायां पश्चात्तापो मम जात इति शेषः । स कथं केन प्रकारेणेति विचार्यमाणे, सेवकोहं; अहं सेवक इति सेवकत्वप्रकारेणाज्ञाभङ्गकरणहेतुकः । च पुनरन्यथा न, स्वचिकीर्षितकार्यासम्पूर्त्यादिहेतुको न । अतो मत्कृत्यादिविचारेपि मत्सेवकत्वपुरस्कारेण विचारात् पश्चात्ताप एव युक्त इत्यर्थः ।

* 'आज्ञा पूर्वन्तु या जाते'त्यत्र । अत्रेदं बोध्यम् । प्राकट्यात् पूर्वं हि 'अर्थं तस्य विवेचितुम्' इत्यत्रोक्ताज्ञा जाता, तदनन्तरमाज्ञाद्वयं देहदेशपरित्यागविषयं गङ्गासागरसङ्गमे मथुरायाञ्च जातमिति । एवमाज्ञात्रयं सिद्धम् । तत्र श्रीमदाचार्येष्वतिकरुणत्वमस्ति न वेति लोकानां संशयनिवारणार्थं पुष्टिमार्गस्थत्वात् स्वस्य वा तदर्थं प्राकट्यानन्तरमाज्ञाद्वयमतिकरुणत्वविरोधिजातम्, तदाज्ञाद्वयं स्वस्य भगवतश्च स्वाङ्गीकृतेषु अतिकरुणत्वख्यापनार्थं न कृतम्, तत्कृतौ हि सर्वमाज्ञाप्तं न स्यात्तेन च स्वाङ्गीकृतानामनुद्धारः स्यात्, तेन चोभयस्य करुणत्वं न स्यात्, यदि तदेव न स्यात्तदा पूर्वं तदर्थं नाज्ञापयेत् । भगवान् स्वयं च नाविर्भूयात् । नत्वेवम् । अतः परीक्षार्थत्वान्नान्तःकरणगोचरा । अतो न विशेषगत्यादि कृतमित्यर्थः । न च पूर्वयैव तत्सम्भवे किं देशत्यागविषयिण्या तयेति वाच्यम्, क्रीडादेशे त्यक्ते विरहेण स्वयमेव देहं त्यक्ष्यन्तीति तेनातिकरुणत्वमेव परीक्षितं न भविष्यतीति भगवदभिप्रायः । श्रीमदाचार्यैस्तु तदपि तथैव ज्ञातमिति सापि न कृतेति भावः । नन्वयमेवाशयो भगवतः श्रीमदाचार्याणाञ्च तथैव ज्ञानं जातं, इत्यत्र किं मानमित्यपेक्षायां भगवदादिसर्वसम्मतं हेतुमाहुः । तृतीयो लोकगोचर इति । तद्द्वयापेक्षया पूर्वमाज्ञाप्तः सर्वोद्धारः लोकगोचर इति न किञ्चिद् अलौकिकं मानं वाच्यम् । किन्तु सर्वलोकप्रसिद्धमेव मानमित्यर्थः । एवं कृते पश्चात्तापः कथम् ? न कथमपि । यतः सेवकधर्मोन्तःकरणकमाज्ञप्तकरणम्, न चान्यथा तद्विरुद्धमित्यर्थः । अत एव श्रीमदाचार्यैराज्ञप्तं विवेकधैर्याश्रये 'विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादि'त्यनेनेतिदिक् । (इति स्वतन्त्रलेखः) ॥ ५–६ ॥

ननु युक्तोयं विचारस्तथापि पूर्वापराधजनितभगवदप्रसन्नताया अनिवृत्तौ भयरूपोयमुद्वेगः, स कथं निवर्त्ततामित्याशङ्कायां तदर्थं विचारान्तरमुपदिशन्ति । लौकिकप्रभुवदित्यादि ।

* श्रीपुरुषोत्तमचरणानामेवायं स्वतन्त्रलेखः । लिखितश्च स्वहस्ताक्षरैः । अत एवात्र निवेशितः ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

लौकिका हि प्रभवोपराधेनाप्रसन्नाः कस्यचित्प्रसीदन्ति, कस्यचिन्न प्रसीदन्ति, तद्वत् कृष्णो भगवान् कदाचन अवतारकालेऽनवतारकाले च न द्रष्टव्यः । अवतारकाले 'अहो बकीयमि'तिवाक्येन अनवतारकाले च वरणश्रुत्या 'मह्यादाय यदा दुखेद्धनिष्येपि वरोर्जितमि'ति देवान् प्रति भगवद्वाक्येन चापराधसन्तृत्वपूर्वकसत्फलदातृत्वस्य भक्ते कृपावत्वस्य च सिद्धत्वात् । त्वया च सर्वं भक्त्या भगवते समर्पितमतो भक्तत्वात् कृतार्थोसि । 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामि'तिवाक्ये भगवता भक्तौ जातायां निरवशेषार्थासिकथनात् सर्वं साधनरूपं फलरूपं चार्थं प्राप्तवानसि । अतः सुखी भव, दौर्मनस्यनिवारणेन निवृत्तो भवेत्यर्थः । इयं चोक्तविचारात्मकाज्ञाकर्त्तुः प्रभुभिराशीरेव दीयते ।

अतः परं विद्यमानेपि दैहिके सेवासामर्थ्ये पूर्वोक्तखेदेन वा देहाध्यासेन वा कार्यान्तराभिनिवेशादिना वा दैहिकसेवायां प्रमाद्यन्तं प्रति पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । प्रौढापीत्यादि ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

प्रौढा भर्तृसकलकार्ययोग्या तत्समर्थापि दुहिता यद्वत् यथा, स्नेहाद् इयं बाला पतिगृहे महत्कार्यं कर्तव्यं तत् कुर्वन्ती श्रान्ता क्लिष्टा च भविष्यतीति ज्ञात्वा वरे भर्तृसमीपे न प्रेष्यते, तथा तद्वद्देहे स्नेहात् सेवां विना स्थापनं न कर्तव्यम् । तत्र हेतुः । वरस्तुष्यति नान्यथेति । अन्यथा प्रेषणविरुद्धे प्रकारान्तरे वरो न तुष्यति; तथा शरीरेण सेवाया अकरणे भगवानपि न तुष्यति । एतस्य देहस्य भगवता स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात्; 'भवाय नाशाये'ति पञ्चमस्कन्धीये वाक्ये तथैव प्रतिपादितत्वात् । अत एवं विचारेण पूर्वोक्तदोषाभ्यत्कृत्याज्ञप्तसेवैव कार्येत्यर्थः ।

अथापराधेन प्रतिबन्धादिना वा देहस्य तदर्थतायां सन्देहे विचारन्तरमुपदिशन्ति । लोकवच्चेदित्यादि ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।

लोका यथा संसारासक्ता नानास्वभावास्तत्र तत्र तेन तेन शास्त्रादिना प्रवर्त्तन्ते, तद्वच्चेन्मे स्थितिः स्यात्; उक्तरीत्या पश्चात्तापो न स्यात् तदा किं स्यात्? लोकतुल्यतैव स्यात् । सा तु मे न जाता, अतो मदुपरि भगवान् दयां करोतीति विचारय ।

तथा चैवं विचार्य देहस्य सेवार्थत्वं निश्चिनुहि; निश्चित्य चाज्ञां कुर्वित्यर्थः । एवमुक्ततया सेवाकरणेपि पुनः प्रतिबन्धसम्भवश्चेत्तत्राप्युपायमाहुः । अशक्य इत्यादि । पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यं चेद् भातं तदा हरिः स्मर्तृसर्वाघहर्त्ता भगवानेवास्ति । 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'तिवाक्ये स्वस्य प्रपन्नसर्वपापनिवारकत्वं वदन् रक्षकोस्तीति विचारय । कथञ्चन, केनापि पूर्वमुक्तेन कृतेनानुक्तेन भाविना सम्भावितेन वा प्रकारेण मोहं वैचित्यं ममातः परं किं भविष्यतीति मौढ्यात्मकमुद्वेगं मा गाः । एवं भगवतः शरणत्वविचारेणैव सर्वोद्वेगनिवृत्त्या भगवत्कृपाया अभिव्यक्तेरित्यर्थः ।

एवं सर्वं विचारवाक्यमुक्त्वोपसंहरन्ति । इतीत्यादि ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥ १० ॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

चित्तं प्रति अन्तःकरणं लक्षीकृत्य उद्दिश्य श्रीकृष्णदास्य हितं सुखसम्पादकं वल्लभस्य भगवतो भक्तानां च प्रियस्य वचः विचारोपदेशवाक्यम् ; इति एतावत् शरणोपदेशान्तमेव नाधिकं; यदाकर्ण्य श्रुत्वा भक्तः पूर्वोक्तः कृतापराधोपि निश्चिन्ततामुद्वेगनिवारणेन चिन्ताराहित्यं व्रजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः ।

अत्रैतत् सिद्धम् ।

(१) भगवान् समाभ्यधिकराहित्यात् स्वतन्त्रः ।

(२) मार्गप्रवर्तका भक्ताः स्वरूपतो दोषरहिता भगवतोक्तभक्तवश्यतायामपि भगवदधीना एव भगवदभिन्नाश्चातः स्वस्य तन्मार्गीयत्वेपि मार्गप्रवर्त्तकभक्तवत् स्वस्य भगवदाज्ञाभङ्गोऽनभिप्रेतकरणं च न युक्तम् ।

(३) स्वस्य स्वभावतो दोषसत्त्वेपि समर्पणादुत्कृष्यतीति कृपाबाहुल्येपि स्वोत्कर्षो न भावनीयः ।

(४) भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वात् किं चिकीर्षतीति तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् सर्वदा तदाज्ञैव कर्त्तव्या । तदकरणे 'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामि'तिवत् स्वामिद्रोहात्मको महान् अपराधः स्यात् ।

(५) किञ्च, अहं सेवक इति मदनुरूपं यत् तत् स्वामी एव करिष्यतीति विचारः सेवकस्योचित इत्यतोप्याज्ञैव कार्या । नाप्याचार्यकृतिदृष्टान्तेन स्वयं प्रौढिः कर्त्तव्या । तैरपि स्वमौढ्या तथाकृतौ पश्चात्तापत्वस्यैवोक्तत्वात् पश्चात्तापस्यापि सेवकत्वप्रयुक्ततायाः एवोक्तत्वाच्च ।

(६) किञ्च; भगवान् न लौकिकप्रभुवद् अपराधेन कुपितः परित्यजति । भगवद्धर्मरूपस्याङ्गीकारस्यापि नित्यत्वात् । स्वस्य चाङ्गीकृतौ समर्पणादिनानुमितायां

भगवदुक्ततद्धर्माचरणे उपक्रमदशायामपि फलतः साधनतश्च वैगुण्याभावस्योद्धवं प्रति स्वयमेवोक्तत्वात् कृतार्थतैव भवत्रीति भावनीयम् । न तु सन्देग्धव्यम्, 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्चे'ति वाक्येन भगवता दोषस्यैवोक्तत्वात् ।

(७) किञ्च; देहोपि प्रौढदुहितृप्रेषणन्यायेन देहार्थं स्वार्थं न संरक्ष्यः । किन्तु, येन केनचिदुपायेन भगवति एव विनियोक्तव्यः । भगवतास्य देहस्य स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात् । तदकरणे लोकतौल्यमेव स्यात् । यदि पुनस्तस्य तत्र विनियोजने प्रतिबन्धसम्भवस्तदा भगवानेव शरणत्वेन भावनीयः । एतदतिरिक्तस्योपायान्तरस्याभावात् । प्रतिबन्धो हि भगवन्मायया, तस्यास्तत्राधिकृतत्वात् । तत्तरणोपायश्च प्रपत्तिरेव नान्य इति भगवतैव गीतायामाज्ञापनादिति ।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमकृतौ
अन्तःकरणप्रबोधविवरणं सम्पूर्णम् ।
